प्रकाशक : वसन्त श्री. सातवळेकर, बी. ए.
स्वाध्याय-मंडल, आनन्दाश्रम, पारडी (सूरत)

तृतीयवार
संवत् २००६, शक १८७०, सन १९५०

मुद्रक : व. श्री सातवळेकर, बी. ए
भारत-मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, पारडी (सूरत)

लिये वेदमें कोई आधार नहीं। यजु० अ० ३० और ३१ में 'नरमेध' का विषय आया है। इन दोनों अध्यायोंमें ऐसा एक भी मन्त्र नहीं है, कि जिससे नरमांसके हवनका थोडासा भी भाव निकल सके। अ० ३१ के विषयमें जो लिखना होगा वह उस अध्यायके प्रस्तावमें लिखूंगा, यहां केवल अ० ३० के विषयमें ही लिखना है।

(२) मेधमें हिंसाका भाव।

'मेध' में हिंसाका भाव है मेधृ मेधा-हिंसनयो, सगमे च'। ऐसा अर्थ मुनीश्वर पाणिनी देते हैं। अर्थात् मेध' का अर्थ—(१) मेधा-बुद्धि बढाना, (२) हिंसा करना और (३) संगम अर्थात् संगति किंवा मित्रता करना। जिनके साथ मित्रता करनी और जिनकी मेधाबुद्धि बढानी, उन्हींकी हिंसा करना, यह बात सुसंगत नहीं दीखती। उदाहरणके लिये देखिए— ज्ञानी पुरुषोंके साथ मित्रता करनी उचित है और साधारण मनुष्योंकी धारणा-शक्तिकी वृद्धि करके उनको उन्नत करना आवश्यक है, ये दोनों बातें सर्व-संमत हो सकती हैं, परन्तु इन्हीं मनुष्योंका हनन करना किस प्रकार मान्य हो सकेगा? यदि ज्ञानियोंका हनन हुआ, तो ज्ञानप्रचार और बुद्धिवर्धनका कार्यही नष्ट होगा; इसलिये इस शब्दमें जो हिंसाका भाव है, वह ज्ञानके विरोधियोंके विषयमें समझना उचित है। जैसा देखिए— (१) विद्वानोंके साथ मित्रता करना, (२) मनुष्योंकी धारणाबुद्धिकी वृद्धि करना और (३) जो इन दो कर्तव्योंके साथ विरोध करेंगे उनकी हिंसा करना अर्थात् उनका विरोध हटाना अथवा विरोध करनेवालोंको दूर करना। इसी प्रकार इस शब्दके हिंसा अर्थको समझना उचित है। अन्यथा अर्थका अनर्थ हो जायगा और वेदका उत्तम आशय दूषित होगा। इसलिये उन्नतिके विरोधक दस्यु-भावका हनन अर्थात् नाश करनाही यज्ञकी हिंसा है। इसी हेतुसे अहंकार, क्रोध, आलस आदिका मानस-यज्ञ द्वारा नाश करनेके लिये उपनिषद् ग्रन्थोंमें कहा है। 'मन्यु पशु' आदि शब्दोंका यही आशय है कि ज्ञानविरोधक जो क्रोध आदि पाशवी वृत्तियां हैं, उन्हींका नाश करना आध्यात्मिक यज्ञीय हिंसाका तात्पर्य है। निम्न कोष्टकसे 'मेध' के 'मेध, संगम और हिंसा' के भावोंका स्पष्ट पता लग जायगा—

हिंसा
३ परस्पर ऐक्य
८ मनुष्योंकी पवित्रता
२ परस्पर द्वेषभाव
३ परस्पर भेदभाव
४ परस्परका अज्ञान
६ परस्पर अप्रीति
७ हृदयका संकोच
८ मनुष्योंकी अपवित्रता
विनाशक विचार
दूर करना

इस प्रकार 'मेघ' के हिंसाभावका तात्पर्य है। 'बुद्धि, संगति' और 'हिंसा' इन तीनों भावोंका विशेषतया नरमेधमें और सामान्यतया सब मेधोंमें यही तात्पर्य है। जो बुद्धि और संगतिका विरोध करेगा, उसको दूर हटाना है। यही भाव लेकर इस अध्यायके निम्न मन्त्र देखिए—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभते।
क्षत्राय राजन्यं आलभेत।

'ज्ञानके लिये ब्राह्मणको प्राप्त करे। शौर्यके लिये क्षत्रियको प्राप्त करे।' यह वास्तविक अर्थ है परंतु भ्रमसे इन मन्त्रोंका निम्नप्रकारका अर्थ समझा जाता है—

'ब्रह्म देवताके प्रीत्यर्थ ब्राह्मणका आलभन अर्थात् बलिदान करे, क्षत्र देवताके प्रीत्यर्थ क्षत्रियका बलिदान करे,।' इस अध्यायके श्री. उव्वटाचार्य और महीधराचार्यके भाष्योंमें इसी प्रकार अर्थ किये हैं। और इनके भाष्यानुसार पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रजीने अपने यजुर्वेदके मिश्रभाष्यमें भी इसी प्रकारका भाव बताया है। पंडित ज्वालाप्रसादजी कहते हैं कि, 'ग्यारह यूप सुशोभित करने चाहिए।' जिसमें ब्राह्मण-क्षत्रियादि सब पुरुषोंको नियुक्त करना चाहिए। इसी अध्यायके प्रसंगमें पं० ज्वालाप्रसादजी ब्राह्मणक्षत्रियादिकोंको यूपोंके साथ बांधनेके लिये कहते हैं। कौनसा तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण तथा मानधन वीर्यशाली उग्र क्षत्रिय अपने आपको यूपके साथ बंधवानेके लिये सिद्ध होगा? अथवा जो अपने आपको पशुवत् यूपके साथ बंधवानेके लिये सिद्ध होगा, वह ब्राह्मण और वह क्षत्रिय भी किस श्रेणीका होगा? जिसमें मनुष्यत्व और पशुत्वके भेदका भी परिज्ञान नहीं है। वास्तव बात इतनीही है कि, जो बात वेदमन्त्रोंमें नहीं है वही वेदमंत्रोंपर लादनेका संकल्प इन लोगोंने किया है। ज्ञानसे अथवा अज्ञानसे इन लोगोंने अर्थका अनर्थ कर छोडा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

वेनति गतिकर्मा २।१४॥, वेनतिः अर्चतिकर्मा। निघं० ३।१४॥, वेनतिः कामयते। निरु० १२।२९॥, वेनः मेधाविनाम० निघ०। ३।१५॥' इतने इस शब्दके निघटु निरुक्तमें अर्थ हैं, कांति, गति, पूजा, कामना, बुद्धिमत्ता ये अर्थ इनसे ज्ञात होते हैं। तात्पर्य, वेन शब्द निम्न भाव बताता है — गति, ज्ञान, विचार दृष्टि, प्राप्ति, कांति, पूजा सत्कार बुद्धि, वाद्यवादन 'वेन' के ये भाव हैं। मनुष्योंमें हलचल रखना ज्ञान और विचारशक्ति बढाना, उनकी दृष्टिका विकास करना, एक दूसरेको प्राप्त होकर परस्पर सहायता करना, सौंदर्य बढाना, परस्पर सत्कार करना, बुद्धिकी शक्ति बढाना, वाद्य बजानेका अभ्यास करना ये भाव 'वेन' शब्दसे बोधित होते हैं।

(३) अ-ध्वर —' ध्वरति वधकर्मा। निघ २।१९।' ध्वरका अर्थ वध है। न ध्वर अध्वर अहिंसामय कर्म।' जिसमें हिंसा नहीं होती, उस कर्मका नाम 'अ ध्वर' है। 'अ ध्वर' का अर्थ अहिंसायुक्त कर्म है। जिस कर्ममें हिंसा होती है उसको अ ध्वर नहीं कह सकते। यज्ञमें हिंसाका पूर्णतया निषेध है, यह भाव 'अ-ध्वर' शब्दही बता रहा है।

(४) मेध — बुद्धिवर्धन, संगतिकरण और हिंसन ये तीन अर्थ इसके हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्वस्थलमें तथा यजु० अ० ३२ की भूमिका में हो चुका है, और वहां हिंसाके भावका तात्पर्य भी बताया गया है। अ ध्वर शब्दके साथही इसका प्रयोग बताता है कि इसमें हिंसा नहीं होनी चाहिए। इसलिये दुष्टताका नाश इतनाही यहांके हिंसनका तात्पर्य है।

(५) विदथ —' विद्-ज्ञाने। विद्-सत्तायाम्। विद् लाभे। विद्-विचारणे। विद्-चेतनाख्याननिवासेषु।' इस धातुसे यह शब्द बनता है। इसलिये इसके अर्थ-ज्ञान, अस्तित्व, लाभ, विचार, चेतना, व्याख्यान, निवास, इतने होते हैं। 'विदथ' के कोशोंमें अर्थ-विद्वान साधु स्वार्थत्याग ज्ञान युद्ध इतने हैं। लोगोंमें विद्वत्ता, ज्ञान, साधुत्व, स्वार्थत्याग आदि गुणोंकी वृद्धि करना और उनको जीवनके युद्धमें कृतकार्य बनाना इसका तात्पर्य है।

(१३) इन्दुः- इन्दु, सोम, चन्द्र ये शांतिबोधक शब्द हैं 'उन्दी-क्लेदने।' इस धातुसे यह शब्द बनता है। गीला करना, शांत करना इसका आशय है।

(१४) प्रजा-पातिः— प्रजा अर्थात् सब जनताका पालन जिससे हो सकता है उस कर्मका नाम प्रजा पति है। इस शब्दके साथ 'नरमेध' के अर्थोंकी तुलना करनी चाहिये। प्रजाके सच्चे पालनके साथ 'मेध' शब्दके पूर्वोक्त इन अर्थोंका अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्रजा-पति' और 'नर-मेध' ये दो भिन्न शब्द जनताके पालनका भाव उत्तम रीतिसे सिद्ध कर रहे हैं। 'पत् ऐश्वर्ये' इस धातुसे भी 'पति' शब्द बनता है। प्रजाका ऐश्वर्य बढानेवाले कर्मका नाम 'प्रजापति' हो सकता है। ये सब अर्थ यज्ञका भाव बताते हैं।

(१५) घर्म —'गर्मी' अर्थात् उष्णता यह इसका अर्थ है। जनतामें 'गर्मी', उष्णता रखना इसका आशय है।

यज्ञवाचक १५ शब्दोंका भाव देखनेसे यज्ञके वास्तविक उद्देशका पता लग सकता है। समझिये कि यज्ञके ये १५ लक्षण हैं। जनतामें किस प्रकारका कर्म होना चाहिए, इसका ज्ञान इन शब्दोंके भावोंपर विचार करनेसे हो सकता है। यज्ञवाचक सब वैदिक शब्दोंका विस्तारपूर्वक अर्थ यहां इसलिये दिया है कि, पाठक, उनका विचार अच्छी प्रकार करें, और नरयज्ञका आशय भली प्रकार सोचें। नर-यज्ञका विषय बडा गहन है, इसलिये उसका अच्छी प्रकार विचार होना चाहिये। आशा है कि, ये यज्ञवाचक १५ शब्द नरयज्ञके १५ उच्च भाव पाठकोंके मनोंमें प्रकाशित करेंगे, और वैदिक नरमेधकी सच्ची कल्पना पाठकोंकी मनोभूमीपर खडी करेंगे।

(४) 'नरमेध' का तात्पर्य 'मनुष्यत्वका विकास' है।

पूर्वोक्त अर्थोंका विचार करनेसे नरमेध अथवा पुरुषमेधका मुख्य उद्देश 'मनुष्यत्वका विकास' है, यही बात निश्चित होती है। ज्ञान, बल,

ritual resembles in many respects that of Ashva-medha, man, the noblest victim, being actually or symbolically sacrificed instead of the Horse, and men & women of various tribes figures, complexions characters, and professions being attached to the sacrificial stakes in place of the tame and wild animals enumerated in Book XXIV These nominal victims were afterwards released uninjured and, so far as the text of the white Yajur Veda goes, the whole ceremony was merely emblematical, a type of the allegorical self-immolation of Purusha, Embodied Spirit or the Cosmic Man

(यजुर्वेद भाषांतर अ ३०, पृ २५५) यजु. ३०।३१ अध्याय पुरुषमेध अथवा मनुष्यके बलिदानका वर्णन करते हैं। यह प्रथा प्रायः सब प्राचीन देशोंमें बहुत पुराने समयसे चली आई है। यह यज्ञ ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय कोही करनेका अधिकार है। इसके करनेसे वह फल प्राप्त होते हैं कि जो अश्वमेधसे नहीं मिल सकते। इस पुरुषमेधकी यज्ञप्रक्रिया अश्वमेधके समान ही है। अश्वके स्थानपर, मनुष्य सबसे श्रेष्ठ बलि केवल चिह्नमात्रसे अथवा वास्तविक रीतिसे अर्पण किया जाता है, तथा मनुष्यके साथ अनेक जाति, आकार रंग, स्वभाव, धंदे आदिके अनेक स्त्रीपुरुष यूपके साथ बांधे जाते हैं, जहां अश्वमेधमें जंगली और ग्रामीण पशु बांधे जाते हैं, जैसा कि अ २४ में लिखा है। ये नाममात्र बलि यज्ञसमाप्तिके पश्चात्, किसी प्रकार का घातपात न कराके, खुले किये जाते हैं, और शुक्लयजुर्वेदके आधारसे यह बात स्पष्ट है कि, यह सब क्रिया केवल लक्षणमात्र है। विश्व पुरुष, चैतन्य अथवा पुरुषके आत्म-बलिदानके रूपक अलंकारक यह एक नमूना है।

म० झेनेद् अ० रागोझिन् महोदय की सम्मति – In the Horse sacrifice as originally instituted, and practised too "The Man" was indeed led after the horse, as the goat was led

before him, and for the same purpose—to be sacrificed. For there can be no doubt whatever that human sacrifices were part of ancient aryan worship .. ..The Indo-Aryans outdid all others in plain-speaking consistency. They openly classed man among animals, counting him as the noblest and first, but still as one of them, *primus inter pares*, as has been felicitously remarked. Sacrifice was of two kinds bloody and bloodless. Fi e " animals are declared fit victims for the forme : man, the horse the steer the sheep and the goat. At a solemn sacrifice all five victims are to be immolated. edic rituals of undoubted authenticity—Shrauta-Sutras and text in Yajur Veda, all Shruti—revealed —give the most detailed instructions as to the occasions of such sacrifices and the manner of them. One of these occasions was the building of city walls, when the bodies of five victims were to be laid in the water used to mix the clay for the bricks, to which their blood was supposed to give the necessary firmness—and probably—consecration. Another was the Horsesacrifice, *ashwamedha*. Then there was the out-and-out human sacrifice-*purusha-medha*—which ranks still higher and for which the victim must be a Brahman or Kshatriya to be bought for a thousand cows and a hundred horses. An in ensified form of *purusha-medha* is that in which a large number of victims—166 or even 184—men of all sorts and conditions —are immolated. The Shatapatha-Brahmana itself, the most important of all, describes this wholesale slaughter-ceremony. But the ritual suddenly breaks off and drops into narrative, giving us the following legend: "Then when the *fire had already been carried* around the victims (all bound to the several sacrificial posts) and they were

just about to be killed, a voice was heard to speak 'O man, do not accomplish it! If thou didst accomplish it, one man would eat the other '" To understand this, we must remember that the flesh of victims was partaken of by the sacrificers It is therefore probably—and nothing could be more natural—the horror of Cannibalism which caused the frightful practice to be abandoned at the cost of logical inconsistancy Substitutes were used at one time, such as golden human heads Yet the custom of associating a human victim with the horse and goat in the *ashva-medha*, seems to have persisted for a while Only it is prescribed to buy for the purpose an old, decrepit, infirm leper for whom "going to the gods" could be only a most happy release But even this wratched wreck must belong to one of the holiest and most illustrious Rishi families However the dislike of spilling blood and taking life (unless in war) which became so conspicuous and beautiful a feature of later Brahmanism, was already growing on the Indo—Aryas, and the same Brahmana--the Shatapatha—formally declares bloodless offerings to be more acceptable and fully as efficient, as usual in the form of a legend or parable

20 But that very disapproval is manifestly a protest against something that really existed and we cannot exonerate our Aryan ancestors from the blot which appears to rest on all races—that of having at some time, practised the abomination of human sacrifices ' (Stories of the Nations Vedic India, page 407–413)

" अश्वमेधमें प्रथमतः घोटक पीछेसे मनुष्य और पहले बकरा बलिदानके लिये ले जाते थे। प्राचीन आर्योंकी पूजाविधिमें नरबलिका एक भाग था

सरपल हुआ हुआ वृद्ध, अशक्त, मरियल, कुष्टरोगी-जिसको कि 'देवोंके पास जाना' इस दुःखसे छुटकारा होनेके कारण सुखकारक था-खरीदा जाता था। परन्तु इस प्रकारके रक्तपातक विधिकी निरादरता हिन्दू आर्योंके मनमें आरूढ हुई और इसी शतपथ-ब्राह्मणमें रक्तरहित अर्पणका प्रभाव निम्न कथाभागसे वर्णन किया है— '

२० ..परन्तु किसी प्रथाके निषेधसेही उस बातकी एक कालमें स्थिति सिद्ध होती है। इसलिये हम आर्य पूर्वजोंसे उस धब्बेको मिटा नहीं सकते, और जो धब्बा सब जातियोंपर लगाही हुआ है, कि किसी न किसी समय मनुष्यका बलिदान करनेकी भयानक प्रथा उनमें अवश्य थी।"

महाशय ए. बी. कीथ महोदय की सम्मति — There can be no doubt that the ritual is a merely priestly invention to fill up the apparent gap in the sacrificial system which provided no place for man On the other hand, the Yajur Veda text recognizes only a symbolic slaying of a whole host of human victims who are set free in due course and only animal victims are offered '

Now the human blood was shed in the ritual is not to be denied

' It would be impossible to deny that we have here the record of the very widespread usage of slaying a human being to act as the guardian of the foundation of a building a custom which is worldwide and has often been exemplified in India But that is not a human sacrifice in the ordinary sense of the word—(it is significant that it is the form found in cannan)—and clearly affords no parallel for the rites of the Yajurveda (Preface, Taittiriya Sanhita Page 131-140)

(६) आर्योंकी पूजाविधिमें अन्य पशुओंके बलिदानके साथ मनुष्यके बलिदानका भी एक भाग अत्यंत प्राचीन कालमें था।

(७) यद्यपि मन्त्रोंमें मनुष्यवधके लिये कोई आधार नहीं, तथा ब्राह्मणों में भी निर्मास यज्ञकी पुकार दिखाई देती है, तथापि एक कालमें मनुष्यका बलिदान तथा अन्य पशुओंका बलिदान करनेका प्रचार आर्योंमें था, यह बात सिद्ध ही है। क्योंकि निषेधसे ही इसका अनुमान हो सकता है।

(८) यज्ञमें इतर पशुओंका हवन है, मनुष्योंका नहीं। इसालिये याज्ञिक लोगोंने वधरहित नाममात्र मनुष्ययज्ञकी प्रथा शुरू की होगी।

(९) कदाचित मनुष्यके बलिदानकी प्रथा अनार्योंमें होगी। उसमें वधका निषध करनेके लिये आर्योंने यह वधरहित नाममात्र आलंकारिक मनुष्ययज्ञ खडा किया होगा।

(१०) शतपथ आदि ब्राह्मणग्रंथोंमें नरयज्ञकी विधि दी है, और आगे जाकर यज्ञविधिकी पूर्णता न लिखते हुए ही मनुष्यके बलिदानका जोरसे निषेध किया है।

सारांशरूपसे ये मूल सूत्र हैं कि जो यूरोपीयन लोगोंकी समति प्रकाशित कर सकते हैं। यूरोपीयन पण्डितोंकी समति किसी एक बातमें अत्यंत निश्चित हुई है, ऐसा नहीं दिखाई देता। वैदिक वाङ्मय पढनेसे उनके मनमें जो शंकाएं आती हैं उनको वे लिख मारते हैं। उनकी अबतक निश्चित कोई समति नहीं। ऊपर लिखी हुई उनकी समतियां रेतके किलेके समान अस्थिर हैं।

(१) हमें वेदके पहले क्या प्रथा थी इसका विचार कर्तव्य नहीं, (२) अवैदिक अनार्य दस्यु लोगोंमें क्या आचार थे इसका भी विचार करनेकी हमें आवश्यकता नहीं, (३) सब दुनियांभरके प्राचीन कालके अज्ञानी पूर्वज क्या करते थे, इसका विचार हमें इस समय करना नहीं है, (४) वेदके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थोंमें क्या लिखा है, इसका भी हमें विचार करना नहीं है, परन्तु (५) —

(६) युरोपियन पंडितोंकी एक भूल

वेद, ब्राह्मण, सूत्र आदि ग्रंथोंमें जो कहा है, वह सब वैदिक धर्म है, ऐसा माननेसे यूरोपियन लोगोंकी उक्त भूल हो गई है। वास्तविक बात यह है कि, वेदके मंत्राद्वारा कहा हुआ ही 'सच्चा वैदिक धर्म' है। शतपथ आदि ब्राह्मणों और सूत्रग्रन्थोंद्वारा कहा हुआ 'ब्राह्मण धर्म' तथा 'सौत्र धर्म' कहा जाता है। स्मृतिग्रन्थोंद्वारा प्रतिपादित 'स्मार्त धर्म' पुराणों द्वारा प्रतिपादित 'पौराणिक धर्म' नामसे प्रसिद्ध है। ये सब धर्म भिन्न भिन्न हैं और इनमें परस्पर विरोध भी है। जो अपना 'वैदिक धर्म' मानते और समझते हैं, उनको भी यह ख्याल अवश्य रखना चाहिए कि, उनका धर्म वेदका कहा हुआ धर्म है, न कि ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, पुराण, आधुनिक आचार्य अथवा साधुमण्डलका कहा हुआ।

सनातन वैदिक धर्म		
	(१) ब्राह्मण धर्म	५००० वर्ष
	(२) सौत्र धर्म	४००० ,,
	(३) स्मार्त धर्म	३००० ,,
	(४) पौराणिक धर्म	२००० ,,
	(५) शैव वैष्णवादि आचार्योंका स्वमत प्रतिपादित धर्म	१२०० ,,
	(६) साधुसन्तोंका मतधर्म	८००
	(७) आपापंथी स्वैरधर्म	आधुनिक

इस कोष्टकमें वर्ष संख्या स्थूल रूपसे दी है, निश्चित नहीं; परंतु थोडे भेदके साथ उक्त ग्रन्थोंका यही काल माना जा सकता है। ब्राह्मणग्रन्थ उत्पन्न होनेके ही पहिले वेदके मंत्र विद्यमान थे। वेदमन्त्रोंका काल निश्चित करनेके लिये यूरोपके पण्डित अनेक प्रयत्न कर रहे हैं, अबतक उनका एक मत नहीं

अर्थ—कृत्तिका नक्षत्रमें अग्न्याधान करना चाहिए। क्योंकि कृत्तिका ही पूर्व दिशासे नहीं हटते हैं। दूसरे सब नक्षत्र पूर्व दिशासे हट जाते हैं।

इस शतपथ ब्राह्मणके वचनमें '(कृत्तिका) एताः प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।' कृत्तिका नक्षत्र पूर्व दिशासे हटता नहीं है, ऐसा वर्तमान काल (present tense) वाचक प्रयोग किया है अर्थात् जिस समय वाजसनेय याज्ञवल्क्यने यह वाक्य लिखा था, उस समय कृत्तिका नक्षत्र बराबर पूर्व दिशामें रहता था। ' न च्यवन्ते ' यह वर्तमान कालकी क्रिया होनेसे शतपथब्राह्मण लेखक समयकी यह अवस्था स्पष्ट प्रतीत होती है। इस वाक्यसे यह निश्चय होता है कि, जिस समय कृत्तिका नक्षत्रकी ठीक पूर्व दिशामें अवस्थिति थी, उस समय शतपथ ब्राह्मण लिखा गया, और उसी समय उसका लेखक वाजसनेय याज्ञवल्क्य इस भारतभूमिपर विराजमान था। गणितसे इस कालका ठीक निश्चय हो सकता है। आजकल कृत्तिका नक्षत्र विषुववृत्तके ऊपर उत्तर दिशाकी ओर दिखाई देता है। शतपथब्रा० के लेखनके समय कृत्तिका नक्षत्र ठीक विषुववृत्त पर दिखाई देता था, जिससे ठीक पूर्व दिशामें उनकी अवस्थिति उस समय देखनेवालोंको प्रतीत होती थी। कृत्तिका नक्षत्रका इस प्रकार स्थानांतर होनेके लिये संपात बिन्दुका चलन होनेकी आवश्यकता है। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। इसके लिये संपातबिन्दुका चलन ६८ अंश गणितसे निश्चित हुआ है। एक अंश चलन होनेके लिये ७२ वर्षोंकी अवधि लगती है। जिससे ६८×७२=४८९६ वर्षोंका समय आता है, कि जिस समय कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशामें दिखाई देता होगा। कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशामें ७२ (अथवा साधारणतया सौ) वर्ष दीख सकता है। इतने वर्षोंके अंदर अंदर शतपथब्राह्मण लिखा गया होगा।

श्रद्धालु पुरुष होंगे उनको इस बातसे क्रोध भी आवेगा परंतु अब सत्यको छिपाकर रखनेसे कार्यभाग नहीं होगा। जो वास्तव बात है उसका प्रकाश अवश्य होना ही चाहिए।

(९) ब्राह्मणग्रंथमें अर्थका भेद। ३३ देवता।

वेदकी ३३ देवताओंकी और ब्राह्मणग्रंथोंकी ३३ देवताओंकी कल्पना थोडीसी भिन्न है। देखिए —

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्तः॥ अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद्वीर्याणि॥ १०॥ ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ ११॥ ये देवा अंतरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १२॥ ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ त देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १३॥

(अथर्व० १९।२७)

'३३ देवतायें और तीन प्रकारके वीर्य हैं। प्रेममय आचरण करनेवाले उन वीर्योंको अंदर सुरक्षित रखते हैं। इस आनंदके अंदर जो तेज होता है, उस तेजसे यह मनुष्य वीर्ययुक्त प्रयत्न करता है॥ जो आकाशमें ग्यारह देव हैं जो अंतरिक्षमें ग्यारह देव हैं, और जो पृथ्वीपर ग्यारह देव हैं, वे सब ३३ देव इस हवनका सेवन करें॥' तथा —

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ॥
अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ त देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥
ऋ० १।१३९।११॥, यजु० वा. स ७ १९॥, ऐत, ब्रा ५।१२।५॥,
शत ब्रा ४।२।२।९॥, आश्व श्रौ० ८।११।१२॥

'जो ग्यारह देव आकाशमें हैं, जो ग्यारह देव पृथ्वीपर हैं, तथा जो

द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्र कतमः प्रजापतिरिति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति। कतम स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥

(शत० ब्रा० १४।६।९।१-७, बृ उप. ३।९।३)

'कौनसी वे तीन और तीस देवताए हैं ? आठ वसु+ग्यारह रुद्र+और बारह आदित्य=मिलकर एकत्तीस हुए। और एक इन्द्र और एक प्रजापति मिल कर ३३ देव हुए। कौनसे वसु हैं ? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र ये आठ वसु हैं क्योंकि इनमें सब प्राणी निवास करते हैं। कौनसे रुद्र हैं ? जो मनुष्यमें दस प्राण और ग्यारवां आत्मा है, क्योंकि ये शरीरसे निकल जानेपर आदमियोंको रुलाते हैं। कौनसे आदित्य हैं ? वर्षके बारह महिने बारह आदित्य हैं क्योंकि ये सबकी (आयुको) ले जाते हैं। कौनसा इन्द्र और कौनसा प्रजापति ? बिजली इन्द्र है और यज्ञ अर्थात् पशु प्रजापति है ॥'

यहां विचार करना चाहिए कि वेदोंके ३३ देवताओंका यह स्पष्टीकरण है, अथवा किसीअन्य ३३ देवता विभाग का है।

वेदके ३३ देवताओंमें पृथ्वीपर ११ अन्तरिक्षमें ११ और द्युलोकमें ११ देव हैं और प्रत्येक स्थानपर १० गौण और १ मुख्य है। इसलिये इनमें १२ महिनोंकी कल्पना ठीक नहीं हो सकती। १२ महिने कोई बारा भिन्न भिन्न देवताएं नहीं हो सकती। अथवा होती हैं ऐसा माननेपर उनको पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकमें कौनसे स्थानपर रखना है ? और हमें एक एक लोकमें ११ चाहिये १२ नहीं चाहिए। तथा जो पशुओंका यज्ञके साथ सम्बन्ध बताया है, यही सब यूरोपीयन पण्डितोंकी अशुद्ध कल्पना की जड है। अस्तु। और एक मतभेद देखिए --

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन ॥ (अथर्व १०।८।१६)

जहांसे सूर्यका उदय होता है और जहां सूर्य अस्तको प्राप्त होता है, वह ही (ब्रह्म) श्रेष्ठ है ऐसा मैं मानता हूं। उसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।' अथर्ववेद कां. १० सू. ८ में यह मंत्र है जिस सूक्तका पहिला मंत्र निम्न लिखित है :—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथ १०।८।१)

जो भूत, भविष्य वर्तमान अर्थात् सबका एक अधिष्ठाता है और जो केवल प्रकाश स्वरूप है, उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है। इस मंत्रकी ब्रह्म शब्दकी अनुवृत्ति उस सूक्तके मंत्रोंमें जाती है। इसलिये पूर्वोक्त १६ वे मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है:—

जिस श्रेष्ठ ब्रह्मसे सूर्यका उदय होता है और जिस श्रेष्ठ ब्रह्ममें उसका अंत होता है वही श्रेष्ठ ब्रह्म है ऐसा मैं मानता हूं, उस श्रेष्ठ ब्रह्मका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अर्थात् परमात्माके कारण प्रतिदिन प्रातःकालमें सूर्यका उदय होता है और सायंके समय इस सूर्यका उसी परमात्मामें अस्त होता है, वही परमात्मा सबसे श्रेष्ठ है, जिसके शासनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। अब इस मंत्रके विषयमें शतपथका स्पष्टीकरण देखिये:—

ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे । तप्स्याम्यहमित्यादित्यः भास्याम्यहमिति चन्द्रमाः । एवमन्या देवता यथादैवतं । स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः । म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः । सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥ अथैष श्लोको भवति । यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ॥

(शत ब्रा १४।४।३।२४; बृ उप १।५।२२)

' मैं जलूंगा ऐसा अग्निने कहा, मैं तपूंगा ऐसा सूर्यने कहा, मैं प्रकाशूंगा ऐसा चन्द्रमाने कहा, इसी प्रकार अन्य देवताओंने अन्य काम लिये। जिस प्रकार सब प्राणोंके बीचमें (श्वासोच्छ्वासरूप प्राण मुख्य है, इसी प्रकार सब देवताओंमें वायु मुख्य है क्योंकि अन्य देवताओंका अस्त होता है परंतु वायुका कभी अस्त नहीं होता। इस प्रकार अस्त न होनेवाली वायु देवता है। इसी विषयमें यह श्लोक है ' यतश्चोदेति सूर्यो अस्त यत्र च गच्छति। '

यह मन्त्र संहितामें परब्रह्म विषयक है परंतु उसको यहां वायु पर शतपथ ब्राह्मणके लेखकने लगाया। और निम्न प्रकारकी युक्तियां दीं हैं। (१) वायु सब देवताओंमें श्रेष्ठ देवता है क्योंकि वह अस्त नहीं होता, (२) अग्नि बुझ जाता है इसलिये वायुकी अपेक्षा अग्नि कम योग्यता रखता है, (३) सूर्य चन्द्र आदि देव अस्त होते हैं इसलिये ये भी वायुकी अपेक्षा कम हैं। इन युक्तियोंका खंडन करनेकी आवश्यकता नहीं, न सूर्यका कभी अस्त होता है और न सूर्यकी योग्यता वायुसे कम है। वेदमन्त्रोंके आशयसे पृथिवी स्थानमें अग्नि, अंतरिक्षमें वायु अथवा विद्युत् और द्युलोकमें सूर्य देवता मुख्य है। सूर्य द्युस्थानका देव होनेसे वायुकी अपेक्षा श्रेष्ठ है यह वैदिक कल्पना थी। परंतु ब्राह्मणमें सूर्य अस्त होनेके कारण वायुकी अपेक्षा भी कम बन गया। उक्त मन्त्रका शतपथ ब्रा० का अर्थ अशुद्ध है। इसी प्रकार कई मन्त्रोंका अर्थ मूल वेदके आशयके बिलकुल उलटा दिया है।

तथा मन्त्रोंके विनियोग भी विचित्र दिये हैं। पुरुषसूक्तका विनियोग नरमेधमें १८४ मनुष्य यूपोंको बांधनेके पश्चात् उनकी स्तुति और प्रोक्षण करनेके लिये किया है देखिए.—

> नियुक्तान्पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभि ष्टौति। सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन षोडशकलं वा इदं सर्वं सर्वं पुरुषमेधः ॥
>
> (शत० ब्रा० १३।६।२।१२)

तान्वै दश दश आलभते। ..॥ ३ ॥
एकादश एकादश आलभते । . ॥ ४ ॥
अष्टाचत्वांरिशतं मध्यमे यूप आलभते ॥ ५ ॥
एकादशैकादश इतरेषु ॥ . .. . ॥ ६ ॥
अष्टा उत्तमानालभत ॥ . . ॥ ७ ॥

उनका मध्यम दिनमें आलभन करता है। अंतरिक्ष मध्यम दिन है। क्योंकि अंतरिक्ष ही सब भूतोंका स्थान है। अब अन्न ही ये पशु हैं। उदर मध्यम दिन है। क्योंकि उदरमें ही उस अन्नका धारण होता है॥ दस दस, ग्यारह ग्यारहका आलभन करता है। ४८ का मध्यम यूपमें आलभन करता है। ग्यारह ग्यारह इतर यूपोंमें। उत्तम आठोंका आलंभन करता है।"

इन्ही बातोंसे, उवटाचार्य, महीधराचार्य, प ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा सब युरोपियन पंडित भ्रांत हुए हैं और उन्होंने लिखा है कि नरबलिदानकी प्रथा वैदिक आर्योंमें अवश्य थी!!। शतपथ ब्राह्मणका इस प्रकार लिखनाही इस भ्रांत मतका सर्वथैव कारण है। फिर हम विचारे युरोपीयनोंको किस प्रकार दोष दे सकते हैं? वे सब मानते हैं कि 'मूल वेदमें नर मांस-हवनका कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु ब्राह्मणके प्रमाणसे आर्योंमें कसाईपनका यज्ञ था ऐसा ही मानना पडता है।' जिस शतपथ ब्राह्मणने यजुर्वेदके पहले अध्यायोंके मन्त्रोंपर कई पृष्ठ विस्तारपूर्वक लिखे हैं, उसी ग्रंथमें यजु ३० और ३१ इन दो अध्यायोंपर केवल तीन पृष्ठ भी नहीं हैं, और जो लिखा है वह सब उक्त प्रकार संदेहमय लिखा है। तथा आगे आकर कहते हैं —

कर्म न समाप्त करनेकी सूचना।

अथ हैन वागभ्युवाद । पुरुष मा सतिष्ठिपो यादि सस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यतीति । तान्पर्यग्निकृतानेवोदसृजत्तद्देवत्या आहुतीरजुहोत्। ताभिस्ता दवना अप्रीणात्। ता एन प्रीता अप्रीणन् सर्वैः कामै ॥१३॥ (शत ब्रा १३।६।२)

तब इसको एक शब्द सुनाई दिया। हे मनुष्य यह कर्म समाप्त न कर यदि तू समाप्त करेगा, तो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको खायेगा। इस शब्दको सुनते ही (उस नारायणने) अग्निके पास लिये हुए उन सबको छुड़ा कर दिया और उन देवताओंके उद्देशसे आहुतियोंका ही हवन किया। उन आहुतियोंसे देवताएं संतुष्ट होगयीं। और उन संतुष्ट देवताओंने (नारायणकी) सब इच्छाएं पूर्ण कीं।

यद्यपि इसप्रकार नर-मेध-यज्ञका निषेध शतपथब्राह्मणने किया है तथापि १४८ मनुष्योंको ११ यूपोंके साथ बांधना, उन सबको अग्निके पास ले जाना, प्रत्येक देवताके उद्देशसे एकएकको नियुक्त करना और त्याग देना आदि सब विधि नर-मेध-यज्ञकी ही दे बैठा रहा है। प्रश्न यहां यह है कि जो बात मूल यजु. ३० में नहीं थी उस बातको शतपथब्राह्मणके लेखक याज्ञवल्क्य महात्माने क्यों खड़ी कर दिखाई ! इस प्रश्नका कोई सीधा उत्तर नहीं है, सिवाय इसके कि इस विषयमें उसमें उसके समयकी प्रचलित बात लिख मारी परंतु वेदमें कहीं भी इस प्रकारका हिंसामय कर्म न होनेके कारण अंतमें-यज्ञके समाप्त-'कर्म समाप्त न कर' ऐसा ही उसको लिखना पड़ा !!! (१) इस यजु. अ. ३० में कहीं भी ११ यूपोंका उल्लेख नहीं है (२) अध्यायके पूर्वमें इनके मनुष्य बनानेके ऐसाभी कहीं नहीं लिखा, (३) उन १४८ मनुष्योंको अग्निके पास ले जाकर फिर कर्म न समाप्त करते हुए उनको छोड़ देनेका भी वेदमें कहीं नहीं लिखा। इसी प्रकार वेदमें न कही हुई बातें शतपथ ब्राह्मणमें तथा अन्य ब्राह्मणोंमें भी लिखी हैं। इसलिये इनका प्रमाण वैदिक धर्मके साथ संमिलित नहीं करना चाहिए। कोई भी यह नहीं सिद्ध कर सकता कि यजु. अ. ३० के विषयमें तत्संबंध विवरण शतपथकी लिखी हुई बातें और यजुर्वेद मंत्रोंकी कही हुई बातें परस्पर अनुकूल हैं। दोनोंमें इतना भेद है कि दोनोंकी संगति हो नहीं सकती।

इसलिये मैंने पहले लिखा है कि ब्राह्मणग्रन्थोंमें जो कहा है उसका आरोप वेदके मंत्रोंपर नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण-ग्रन्थकी बातें वेदानुकूल हैं, ऐसा युरोपियनोंका भ्रम होनेके कारण उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थोंके सब दोष वेदके सिरपर मढे हैं। वेद ग्रन्थ इतने पुराने हैं कि उनकी धर्मविधियाँ ब्राह्मण ग्रन्थ बननेके समय प्रायः भूली जा चुकी थीं। इसलिये इन ब्राह्मणग्रन्थोंमें वेदके अर्थके विषयमें अनभिज्ञता स्पष्ट दिखाई देती है, जिसके थोडेसे उदाहरण मैंने पहिले बताये हैं।

(१०) ऋषिमुनियोंके ग्रंथोंका प्रामाण्य।

'मैं ब्रह्मासे लेकर जैमिनीमुनीतक सब ऋषिमुनिकृत ग्रन्थोंको प्रमाण मानता हूं' इसप्रकार आचार्य कहते हैं। यह ठीक है। क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण हैं और बाकी सब ग्रंथ वेदके अनुकूल होनेसे प्रमाण हैं। ब्रह्माका ग्रंथ हो अथवा याज्ञवल्क्यका ग्रंथ हो, यदि वह वेदके अनुकूल होगा तो ही प्रमाण होगा। अर्थात् जितना उसका भाग वेदके अनुकूल होगा उतना ही प्रमाण होगा। ब्राह्मणग्रंथ, स्मृतिग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ और पुराणग्रन्थ इन सबका प्रामाण्य इसी प्रकार वेदकी अनुकूलतासे है। अर्थात् 'ब्रह्मासे लेकर जैमिनीतक ऋषिमुनियोंके सब ग्रंथ' वहांतक ही प्रामाणिक हैं कि जहांतक वे वेदके अनुकूल हैं। अर्थात् अन्य ग्रंथोंके बोझके नीचे वेदके उच्च भावको दबाना किसी समयमें भी उचित नहीं। इसी कारण वेदोंका अर्थ वेदके ही अंतर्गत प्रमाणोंसे करना चाहिए', और किसी अन्य प्रमाणोंपर सर्वथा अवलंबित नहीं रहना चाहिए। इसी पद्धतिका अवलंबन स्वाध्याय-मण्डल कर रहा है।

(११) क्या ब्राह्मणग्रन्थोंके शब्द यौगिक नहीं है ?

वास्तविक बात लोगोंसे छिपाना किसी समय भी अच्छा नहीं और न लोगोंके इस समयके अज्ञानका फायदा उठाकर हमको अपना निर्वाह करना उचित है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें अनेक प्रकारकी भ्रमजालकी बातें हैं, उन सबको

इषे त्वा। ऊर्जे त्वा। वायव स्थ। देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। आप्यायध्वम्।
(यजु. १।१)

किसी पदका अध्याहार न करते हुए इसके अन्वय मन्त्रोंक पदोंके साथही निम्न प्रकार बनते हैं —

(१) सविता देव त्वा इषे प्रार्पयतु।-(उत्पादक ईश्वर तुम्हें अन्नके लिये अर्पण करे।)

(२) सविता देवः त्वा ऊर्जे प्रार्पयतु।-(उत्पादक ईश्वर तुम्हें बलके लिये अर्पण करे।)

(३) वायव स्थ।-(तुम सब वायुरूप अर्थात प्राणरूप हो।)

(४) सविता देव व श्रेष्ठतमाय कर्मण प्रार्पयतु।-(उत्पादक ईश्वर तुम सबको अत्यंत उच्च कर्मके लिये अर्पण करे।)

(५) आप्यायध्वम्।-(तुम सब उन्नतिको प्राप्त हो जाओ।)

इस प्रकार इनका मूल शब्दार्थ है, और इससे प्रत्येक मनुष्यको प्रत्येक दिनके व्यवहारके लिये उच्च उपदेश मिल सकता है, परंतु याज्ञिक लोगोंने विपरीत विनियोग करके अर्थका अनर्थ किया है। इसलिये ब्राह्मण और सूत्रग्रंथोंके विनियोग बिलकुल प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं। हां, जहां मन्त्रका अर्थके साथ विनियोग ठीक प्रतीत होगा, उतनाही विनियोग प्रमाण मानने योग्य है। क्योंकि सब विनियोग अर्थके अनुकूलही होने चाहिए।

(१३) ब्राह्मणग्रंथोंका अहिंसामें तात्पर्य।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोंमें बहुतसे संशयरूप विधान हैं, तथापि उन सब ग्रन्थोंका तात्पर्य अहिंसामेंही है, देखिए:—

पुरुष ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धाया

किये जाते थे इस प्रकारका भाव निकलताही है। यह भाव किसी प्रकार भी मूलवद मन्त्रोंमें नहीं है। इसलिये इस प्रकारके अहिंसाके वाक्योंको भी प्रमाण मानना उचित नहीं है। यह निषेधही प्राचीन कालकी विधि बता रहा है।

तथा इसके आगे आकर धान्यका आटाही सच्चा पशुका हवनीय भाग है ऐसा कहा है:—

> अस्य एते सर्वे पशव आलब्धाः स्युस्तावद्वीर्य-
> वद्धास्य हविरेव भवति।
>
> (शत ब्रा १।२।३।७)

'इसको सब पशुओंके आलभनका फल प्राप्त होता है, इतना इसका प्रभाव होता है, जो केवल (पिष्टका) हवन करता है।' इस प्रकारके वाक्य पूर्वकालीन पशु-मांस हवनकी प्रथा बताते हैं। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थोंके हिंसाके निषेध वाक्य भी विशेष प्रमाण माननेयोग्य नहीं। उनसे इतनाही तात्पर्य लेना है कि ब्राह्मणग्रन्थोंका आशय भी धान्यका हवन करनेकी ओर है न कि मांस-हवनकी ओर। परंतु यहां यह विशेषकर स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकारकी जो बातें लिखी हैं वे सब उनकी अपनी हैं, उनका कोई सम्बन्ध वेदके मन्त्रोंके साथ नहीं लगाया जा सकता। वेदके मंत्र शुद्ध और उच्च कर्मका उपदेश स्वतन्त्रतापूर्वक कर रहे हैं।

(१४) ब्राह्मणग्रन्थोंसे हमें क्या लाभ होगा?

उक्त दोष होनेपर भी अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा ब्राह्मण-ग्रंथ हमें अधिक सहायता दे सकते हैं। (१) मन्त्रोंके आध्यात्मिक अर्थ जैसे ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथोंमें उपलब्ध हो सकते हैं, वैसे किसी अन्य ग्रंथोंमें नहीं। वेद-मन्त्रोंका आध्यात्मिक अर्थ सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण इस अर्थके लिये हमें ब्राह्मणग्रंथोंकीही शरण लेनी चाहिए। (२) आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थोंकी संगति लगानेकी सूचनायें ब्राह्मणग्रन्थोंमें स्थान स्थानपर विद्यमान

दिया। परंतु वहांसे भी पवित्र भाग चला गया और गायमें आकर छिप गया। इसी प्रकार क्रमसे गाय, भेड और बकरेमें वह पवित्र भाग छिप गया था। जब देवोंने अतमें बकरेका बलि दिया, तब वह पवित्र भाग जो वहांसे भागा; वह जमीनमें आकर रहा और धान्यके रूपसे ऊपर आया। अब, भाईयो देखो, कि जब मनुष्यादि प्राणियोंका बलि देनेपर उनके शरीर में से पवित्र भाग गया था और देव भी उसको प्राप्त नहीं कर सकते थे, तब तुमको उस पवित्र भागकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? जब तुम अपने देवताके उद्देश्यसे बलि देते हो, उसी समय उस शरीरका पवित्र भाग वहांसे भाग जाता है और अपवित्र मुर्दा तुम्हारे हाथमें रहता है, जिसका कि तुम अपने देवताके लिये अर्पण करते हो। जब तुम अपवित्र पदार्थका अपने देवताओंके लिये अर्पण करोगे, तब तुम्हे देवताका सहाय्य किस प्रकार हो सकता है? अपवित्र अर्पणके कारण देवताओंका क्रोध तुमपर हो रहा है और तुम्हारा नाश हो रहा है। यदि तुम देवताओंकी प्रीति चाहते हो तो पवित्र भागका अर्पण करो। अर्पण करनेयोग्य पवित्र भाग धान्यरूपसे ऊपर आया है। उसीका अर्पण करनेसे सब पशुबलिके अर्पणका पुण्य मिल सकता है और अर्पण शुद्ध और पवित्र होनेके कारण देवतायें संतुष्ट होकर तुम्हारी सब कामनायें परिपूर्ण कर सकती हैं। इसलिये यदि तुम देवताओंकी प्रीति चाहते हो तो धान्यकाही पवित्र अर्पण करो और मुर्दोंका अपवित्र अर्पण न करो।'

पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्योंका यह आशय है। अनार्योंको आर्य बनानेके लिये, दस्युओंसे दस्युभाव हटानेके लिये यह युक्ति थी। जिसका आशय स्पष्ट होनेपर भी यूरोपियन पंडित समझे नहीं, और मानने लगे हैं कि एक कालमें आर्योंमें भी नरबलि आदिकी प्रथा थी। परंतु वास्तव बात बिलकुल उलटी थी। अहिंसाका प्रचार करनेकी यह एक उस समयकी युक्ति थी। यह बात और है कि कईयोंको यह युक्ति पसंद न होगी। परंतु इससे यह बात कभी

लिये गायकी हिंसा न कर। भेड़की हिंसा न कर। दो पांववाले मनुष्य आदि प्राणियोंकी हिंसा न कर। घोड़ेकी हिंसा न कर। चूंकि लोगोंको गाय दूध और घी देती है, इसलिये उनकी हिंसा न कर। बकरेकी हिंसा न कर क्योंकि वह ऊन देता है। हे अग्ने! रक्षण कर, हे शस्त्र! हिंसा न कर। हे रक्षको! किसीकी हिंसा न कीजिये। पुरुष अर्थात् मनुष्यकी हिंसा न कर। प्रजाओंकी हिंसा न कर॥' इस प्रकार हिंसाका निषेध है। और देखिए—

मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम्॥ अथर्व (१४।२।९)
मा हिंसिष्ट कुमार्यं स्थूण देवकृते पथि॥ (अथर्व १४।१।६३)

ढोनेवाले बैल आदिकी (अधिक जोरसे) चलानेके लिये हिंसा न कर। देवोंके विस्तृत मार्गमें (कु मार्य, कु-मर्य) पृथ्वीके ऊपरके मनुष्य आदि मर्य अर्थात मर्त्य प्राणीकी हिंसा न कीजिए।' और देखिये—

व्रीहिमत्त यवमत्तमथो माषमथो तिलम्॥
एष वा भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्ट पितरं मातरं च॥ (अथर्व ६।१४०।२)

'चांवलोंका भोजन कीजिए, जौ खाइए, उड़द अथवा तिल भक्षण कीजिए। रमणीयताके लिये आप सब लोगोंका यही भाग है। आपके दांत रक्षकोंकी तथा मान्यकर्ताओंकी हिंसा न करें।' वेदका यह आशय है। इस प्रकार मनुष्य घोड़ा, गाय, बैल भेड़ और बकरा आदि पशुकी हिंसा करनेका निषेध वेद कर रहा है, फिर यज्ञमें उक्त पशुओंका वध किस प्रकार किया जा सकता है। वधकर्ताओंको दूर करनेकी आज्ञा वेद दे रहा है—

आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु—॥ (ऋ ७।५६।१६)
आरे ते गोघ्नमुत पुरुषघ्नम्॥ (ऋ १।११४।१०)

'गायका वध तथा मनुष्यका वध करनेवालेको दूर करो।' इस प्रकारकी वेदकी आज्ञा है। तात्पर्य वेद अहिंसामय कर्मोंका उपदेश कर रहा है।

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकविश्रुताः ॥
तदाग क्रूरमु पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥
राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम ॥
यद्राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥
अस्मांस्तदेनोपागच्छेत्कृतं यार्हद्रथ त्वया ॥
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥
मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कुतश्चन ॥
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥

(महाभारत सभा ५५।८११)

श्रीकृष्ण जरासंधसे कहता है — 'हे राजा! तुमने प्रसिद्ध क्षत्रियोंको पकडकर रखा है। तेरा भयानक पाप होता हुआ भी तुम अपने आपको कैसे निष्पाप समझते हो? हे राजाधिराज! उत्तम राजाओंको किस प्रकार एक राजा हिंसा करे? तुम इतने राजाओंको बंदिखानेमें रखकर रुद्रदेवताके लिये उनका बलिदान करना चाहते हो? यदि तुमने वह बलिदानका कर्म किया, तो हम सबको वह पाप लगेगा, क्योंकि हम सब धार्मिक लोगोंका रक्षण करनेमें समर्थ हैं। मनुष्योंका बलिदान किसी भी स्थानमें हमने नहीं देखा। तो तू किस प्रकार मनुष्योंके मांसका हवन करके शंकरका यजन करनेकी इच्छा करता है?'

इससे पता लग सकता है कि, आर्य राजा लोग नरबलिदान का अत्याचार अपने राज्यमें तथा अपने पासके राज्योंमें करने नहीं देते थे। और इस प्रकारके कर्म, जब अनार्य राजालोग अपनी शक्तिका घमंड करके, करने लगते थे, तब युद्धतक नौबत आ पहुंचती थी। जैसा कि जरासंधके साथ भीमका महायुद्ध हुआ और जरासंध मारा जानेके पश्चात् सब कारागृहमें रखे हुए राजाओंको खुला किया गया। आर्यत्व और अनार्यत्व गुणकर्मोंसे था न कि केवल जन्मसे। इसी कारण आर्योंका अनार्योंसे शरीरसंबंध होने-

आशयके अनुकूलही होना अधिक समझनीय है। क्योंकि वेदके सब अध्याय-का तात्पर्य बतानेके लिये य नाम प्रारंभमें शुरू हुए हैं। पीछेसे स्वेच्छाचारी लोगोंने मनमाने आचार प्रचलित किये और उन भिन्न भिन्न आचारोंके कारण इन शब्दोंका अर्थ भी भिन्न भिन्न हो गया। इसलिये हमें भी इन शब्दोंके मूल अर्थही देखने चाहिये। इन शब्दोंके जो मूल अर्थ होते थे उनका संग्रह पूर्व स्थलमें किया है वहीं पाठक उन अर्थोंको देखें और उनके आशयको सोचें।

(१८) नरमेधका विषय कहां कहा है ?

वाजसनेयि यजु अ ३० और ३१ में मुख्यतः यह विषय है। तैत्तिरीय संहितामें यह विषय नहीं है, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ४।१ में वाजसनेयि संहितासेही लिया है। ऋग्वेद मं १।२४-३० तक ९७ मन्त्र हैं उनका संबंध नरमेधसे बताया जाता है, जिनका विचार स्वतन्त्रतापूर्वक इसके उत्तरार्धके अंतमें होगा और साथ साथ ऐतरेय ब्राह्मणकी शुनःशेपकी कथा पर भी विचार किया जायगा। शतपथ-ब्राह्मणके विवेचनका तात्पर्य पूर्व स्थलमें विस्तारपूर्वक बतायाही गया है। इसके अतिरिक्त पुराणोंमें नरमेध की कथाएं नहीं हैं, केवल शुनःशेपकीही है। अनार्य जरासंधकी कथा महाभारतमें आई है उसका वर्णन पहले हो चुका है। बस, इतनेही स्थानोंपर नरमेधका उल्लेख आया है। अब हमें प्रथमतः यजु अ ३० का भाव देखना है।

(१९) यजुर्वेद अ० ३० का आशय।

‘हे सबके उत्पन्नकर्ता ईश्वर ! मनुष्योंमें सत्कर्मकी प्रेरणा करो और सत्कर्मके पालनकर्ताकी उन्नतिकी प्राप्तिके लिये प्रेरित करो। ज्ञानसे पवित्र बना हुआ उत्तम दिव्य उपदेशक हम सबके ज्ञानको पवित्र बनावे। और उत्तम वक्ता हम सबका भाषण मीठा बनावे॥ उस उत्पादक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान करते हैं, ताकि वह हम सबकी बुद्धियोंको उन्नतिकी

(२०) 'पुरुष' शब्दका अर्थ।

अध्याय ३० में पुरुष शब्द नहीं है। अ० ३१ में 'पुरुष' शब्द आया है। वहीं उसका विस्तृत अर्थ पाठक देख सकेंगे। यहां इतनाही बताना है कि इस पुरुषमेधमें 'पुरुष' शब्दसे मुख्यतया 'परमेश्वर, परमात्मा अथवा परब्रह्म' लिया जाता है। और यही बात यूरोपीयन लोगोंको खटकती है। पुरुषमेधसे नरबलि दानकी कल्पना करनेमें जो बडी भारी रुकावट है वह यही है। आगामी अध्याय ३१ में जो वर्णन है उससे स्वयं-सिद्ध होगा कि, पुरुषमेधसे पुरुष अर्थात् एक ईश्वरको मानसपूजा करना है और उस पुरुषमेधको करनेवाले देव हैं नकि साधारण मनुष्य। यह देखनेके पश्चातही कई यूरोपीयन कहते हैं कि, यह पुरुषमेध-प्रकरण आलंकारिक है और इसका संबंध साक्षात् परमेश्वरके साथही है और नरबलि-दानके साथ नहीं है।

अध्याय ३२ में 'सर्वमेध' का वर्णन आता है। इस अध्यायका स्वतंत्र पुस्तक स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस सर्वमेधका तात्पर्य सबमें जो मेध अर्थात् पवित्र अर्थात् 'सर्वपूज्य' परमेश्वर है, उसकी मानस पूजा करना है। 'एकेश्वर उपासना' इस अध्याय ३२ में कही है। उसकी तयारीके लिये 'मनुष्यत्वका विकास' करना इन दो अध्यायोंका उद्देश है।

(२१) परमेश्वरका पुरुषमेध।

परमेश्वरके पुरुषमेधका वर्णन शतपथमें निम्न प्रकार है —

> पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पुरुष-मेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्, तमाहरत् तेना-यजत, तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानीदं सर्व-मभवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते यो वैत-देवं वेद॥ १॥ (श० ब्रा० १३।६।१।१)

(४) (केत पू: केतं नः पुनातु)—ज्ञानसे पवित्र बना हमारे ज्ञानको पवित्र करे।	(४) स्वयं ज्ञानसे पवित्र बनना और दूसरोंको ज्ञानके साथ पवित्र बनाना।
(५) (वाचस्पति वाचं स्वदतु)— वक्ता वाणीको स्वादिष्ट बनावे।	(५) वक्ता दूसरोंकी वाणीको पवित्र और मीठा बनावे।
(६) (वरेण्य भर्ग ध्यान)- श्रेष्ठ तेजका चिंतन।	(६) मनुष्य सदा श्रेष्ठ गुणोंका ही विचार करे। कभी दुर्गुणोंका विचारतक मनमें न लावे।
(७) (दुरित-निवारण)— दुर्गुणोंको दूर करना और (भद्र-स्वीकरण)- अच्छे गुणोंका स्वीकार करना।	(७) मनुष्य श्रेष्ठ गुणोंका स्वीकार और दुर्गुणोंका त्याग करे। (सत्यका-ग्रहण और असत्यका त्याग करनेके लिये सदा मनुष्यको तत्पर रहना चाहिए।)
(८) वसोः विभक्तारं हवामहे) वसुओंका विभाग करनेवालेकी प्रशंसा करना।	(८) सब धनोंका लोगोंमें योग्य विभाग करना चाहिए, और जो ऐसा विभाग करेगा उसीकी प्रशंसा करनी चाहिए।
(९) (नृ-चक्षसं हवामहे) मनुष्योंको सुशिक्षण देनेवालेकी प्रशंसा।	(९) सब मनुष्योंको उत्तम शिक्षण देना चाहिए और जो उत्तम शिक्षण देगा उसीकी प्रशंसा करनी चाहिए।
(१०) ज्ञानके लिये ज्ञानीको, शौर्यके लिये शूरको, जनताके लिये वैश्यको और कुशलताके लिये कारीगरको स्थापित करना।	(१०) ज्ञान शौर्य, जनहित, और कौशल्य इनकी वृद्धिके लिये क्रमश ज्ञानी शूर, वैश्य (धनयुक्त), और कारीगरको प्रतिष्ठित करना।

४ विमलहार ध्यामटे	मेधातिथि	मेधातिथिः	मेधातिथि	,,	,,
५ महाणे ब्राह्मण ८० ८०	×	नारायण,	पुरुषो नारा-यणः	,,	,,

शतपथमें अध्यायका दृश्य पुरुषनारायणके नाम दिया है। परंतु सर्वानुक्रम सूत्रमें ऋषियोंकी खोज की गई प्रतीत होती है। सब वेदोंका यद्यपि एक ही स्वयंभु ऋषि है तथापि उसके स्फुरणसे अन्य ऋषियोंके पास भी दृष्टस्थ आता हो है। जहां जहां मंत्र आया हो वहां वहां प्राचीन पुस्तकोंमें कौनसे ऋषियोंके नाम दिये हैं, अवश्य देखने चाहिये। जिनकी खोज होनेसे एक अपूर्व सिद्धांतका प्रतिपादन होनेवाला है इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इसका विचार करें।

(२३) देवताओंका और उनके बलियोंका विचार।

प्रत्येक देवताके उद्देश्यसे एक एक बलि देनेकी कल्पना शतपथ ब्राह्मणसे सूत्रों और भाष्योंमें प्रचलित हुई थी। प्रथम भारतमें इस कल्पनाको श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वतीजीने दूर किया, इसलिये इनकी दिव्यदृष्टी निःसंदेह सिद्ध होती है। नहीं तो सूत्रों और भाष्योंके घने पडदेको फाडकर विस्तृत दृष्टीसे मंत्रोंको देखना इनके पहिले किसीको भी साध्य नहीं हुआ था। मूल वेदके मंत्र मूलवेदके आशयके साथ पढनेको इन्होंने प्रथम प्रारंभ किया, इसलिये, किसीका शब्दार्थके विषयमें कोई भी मतभेद हो, परन्तु इस शुद्ध वैदिक प्रणालीकी जागृतिका संपूर्ण श्रेय उक्त स्वामीजीको ही है। इसमें भिन्न मत नहीं हो सकता। सब देवताओंके उद्देशसे बलि देना मंत्रोंमें है, अथवा कुछ विशेष अर्थ मंत्र रखते हैं, इसका विचार निम्न कोष्टकको देख कर पाठक स्वयं कर सकते हैं। यहां प्रत्येक शब्दके मूल यौगिक अर्थ और साथ साथ भाष्यकारोंके रूढ अर्थ भी रखे हैं, जिससे स्वयं विदित हो सकता है कि रूढ अर्थ लेनेसे अर्थकी कितनी हानि हुई है —

१५ हसाय	आनन्दके लिये	हस देवताके निमित्त
कारिं ,,	कारीगरको ,,	सतत उद्योग करनेवालेका बलि ,,
१८ प्र-मदे	विशेष शौर्यके लिये	प्रमददेवताके लिये
कुमारी पुत्र ,,	वीरस्त्रीके पुत्रको ,,	अविवाहित लडकीके पुत्रका बलि ,,
२० धैर्याय	धैर्यके लिये	धैर्यदेवताके लिये
तक्षाण	कुशलको ,,	सुतार (तक्षाण) का बलि ,,
२२ मायायै	कुशलताके लिये	मायादेवीके निमित्त
कर्मारं ,,	कारीगरको ,,	लुहारका बलि ,,
२३ रूपाय	सौंदर्यके लिये	रूपदेवताके लिये
मणिकार	जौहरीको ,,	रत्नोंका व्यवहार करने-वालेका बलि
२४ शुभे	हित होनेके लिये ,,	शुभनामक देवताके निमित्त
वप ,,	किसानको प्राप्त करो,,	बीज बोनेवालेका बलि ,,
३५ प्रयुग्भ्य	प्रयोगके लिये	प्रयुगदेवोंके निमित्त
उन्+मत्तं ,,	गर्वहीनको ,,	पागलका बलि ,,
३७ भयेभ्य	हलचलके लिये	भयदेवोंके लिये
कित-व	ज्ञान-सेवीको ,,	जुवेबाजका बलि ,,
४१ सधये	सुलह करनेके लिये	संधिदेवताके लिये
जार	वयोवृद्ध मनुष्यको ,,	व्यभिचारीका बलि ,,

१२५ तुलायै	तोलके लिये	तुलादेवीके लिये
वाणिज ,,	दुकानदारको ,,	बनियाका बलि ,,
१२८ भूत्यै	उन्नतिके लिये	भूतिदेवीके निमित्त
जागरण ,,	जागृतिको प्राप्त करो	जिसको नींद नहीं आती उसका बलि ,,
१२९ अभूत्यै	अवनतिके लिये	अभूतिदेवीके निमित्त
स्वप्न ,,	सुस्तको ,,	सुस्तीसे सोनेवालेका बलि ,,
१३० आर्त्यै	आपत्तिके निवारणके लिये	आर्तिदेवीके लिये
जनवादिन ,,	लोगोंके हितकी बात करनेवालेको प्राप्त करो	स्पष्टवादीका बलि ,,
१५१ वनाय	वनके लिये	वनदेवताके लिये
वनप ,,	वनसंरक्षकको प्राप्त करो	वनपालका बलि ,,
१५२ अरण्याय	अरण्यके लिये	अरण्यदेवताके लिये
दावपं ,,	अग्निसे बचाव करनेवालेको ,,	अग्निसे बचानेवालेका बलि
१५६ महसे	महत्त्वके लिये	महमदेवके लिये
ग्रामण्य ,,	ग्रामके नेताको	ग्रामका मार्ग बतानेवालेका बलि ,,
१६१ नृत्ताय	नाचके लिये	नृत्यदेवताके लिये
तूण-वध्म	तबला बजानेवालेको	तबला बजानेवालेका बलि ,,

आवश्यक हुआ। "तस्कर, सभाचर, भीमल, कुमारीपुत्र, उन्मत्त, कितव, जार, प्रश्नविवेक, वितन्ध, स्तेनहृदय, योक्ता, विमोक्ता, जागरण, स्वप्न, जनवादी, वनप, दावप, तूणवध्म" आदि शब्द निःसंदेह जातिवाचक नहीं हैं। परन्तु गुणवाचक और कर्मवाचक ही हैं, इसीलिये स्वयं पं० जी कहते हैं कि दूसरे व्यवसाय करनेवाले पुरुष!!! यदि आप सब जाति वाचक शब्दोंके लिये 'उस उस व्यवसायको करनेवाले पुरुष ऐसा' सामान्यत कहते तो आपका कथन सबको मानने योग्य बन जाता। परंतु इतनी बुरी अवस्था प्राप्त होनेपर भी दुरभिमान नहीं हटता! उन्नतिरूप देवीके सन्मुख इसी दुरभिमानका बलि पहले दीजिये, और पश्चात् वेद पढ़ लीजिए। तभी आपको वेदका गुप्त आशय समझमें आयगा।

'ब्राह्मणकी प्रीति ब्रह्ममें' यही नियम सर्वत्र है। ऐसा पण्डितजीका कथन है। 'लुहारकी प्रीति मायादेवीमें, उन्मत्तकी प्रीति प्रयुगमें, जारकी प्रीति सन्धिमें, कामोत्तेजककी प्रीति संज्ञानमें, परोसनेवालेकी प्रीति स्वर्गमें, नींद न आनेवालेकी प्रीति भूति देवीमें, स्पष्टवादीकी प्रीति आर्तिदेवीमें, इस प्रकारके कथनसे पं० ज्वालाप्रसादजीका क्या आशय है पता नहीं लगता। यदि आप उक्त मन्त्र ठीक नहीं जानते, तो कोई आपको दोष नहीं हो सकता, परन्तु इस प्रकार मनमानी बात लिखना ही विद्वानोंके सामने दोषरूप समझा जायगा।

'पुरुषमेध सबसे श्रेष्ठ है, यह पंडितजीका कथन सबको मानने योग्य है। परन्तु जो वर्णन यजु अ ३० के प्रसंगमें पं० जीने किया है उसको पढ़कर किसी मनुष्यके मनमें 'पुरुषमेध सबसे श्रेष्ठ है' यह बात स्थिर नहीं हो सकती। शोक है कि आगेपीछेका कुछ भी विचार न करते हुए मनमानी बातें ठोक देनेका अधिकार अबतक इन लोगोंने अपने पास रखा हुआ है। यदि आप सचमुच समझते हैं, कि पुरुषमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, तो आप अपनी की हुई व्याख्यासे तो इसकी श्रेष्ठता सिद्ध कीजिए। उपयुक्तता तो आपकी व्याख्यासे सिद्ध ही नहीं हो सकती।

११ खबोंकी आवश्यकता क्या है ? १८४ पुरुष आकर यज्ञमंडपमें बैठक-पर आरामसे बैठ सकते हैं। (१) इनका सन्मान भी करना और (२) इनको खबोंके साथ जोड भी देना, इन दो बातोंकी संगति किस प्रकार करनी है ? क्या प० जी इसका अधिक विवरण कर सकते हैं ?

(२५) स्पर्शास्पर्शका नरमेधमें अभाव।

प० ज्वालाप्रसादजीका सबका सब कहना मानना उचित हो या न हो, इसका विचार सब विद्वान पाठक कर सकते हैं। परंतु आते जाते प० जी के कथनसे ही एक बात सिद्ध होती है कि छूतछातका आजकलका विषय यहां पुरुषमेधमें कमसे कम अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' शूद्र; तस्कर, व्यभिचारी, जुवेबाज, गोपाल, अजपाल, वस्त्र रंगने-वाली रंगरेजा स्त्री, अनुचर, तखांण, लुहार, चमार, धोबर, दास, भील, निषाद, नर्तक, आदि सब १८४ पुरुष यज्ञमंडपमें लाने हैं, और हवनकुंडके पासवाले यूपोंके साथ नियुक्त करना है। यदि छूतछातकी कुछ भी कल्पना मानी जाय, तो यह पुरुषमेध हो ही नहीं सकता। आजकल चमारको यज्ञ मंडपमें वेदीके पास लाना सर्वथा असंभव है। छूतछातकी प्रचलित कल्पना माननेसे यह ' सबसे श्रेष्ठ यज्ञ ' कियाही नहीं जा सकता। अब प० जी को चाहिए कि या तो वे छूतछातको छोडें या पुरुषमेधको अव्यवहार्य कहें ! !

पं० ज्वालाप्रसादजीने जो इस अ० ३० का अनुवाद किया है वह सबका सब गलत है। यहां सब बातोंका विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। पूर्वोक्त रूढ अर्थ बतानेवाले कोष्टकमें जो रूढ अर्थ दिये हैं वे सब पंडितजी के भावके साथ मिलते ही हैं। उनके मतमें ' बलि ' शब्दके स्थानपर ' त्याग देना ' शब्द रखनेसे पंडितजीका अर्थ होता है। पाठक यहीं विचार करें कि इनके रूढीके अर्थ ठीक हैं या यौगिक अर्थ ठीक हैं।

(२७) नरमेधकी वैदिक विधि। समाज-शिक्षा विभाग

पुरुषमेधमें 'पुरुष' शब्दका अर्थ 'पुरि+वसति' (पुरि-षाद। पुरि-शय। पुर्-उष। पुर्-वस्) पुरि अर्थात् नगरीमें बसनेवाला नागरिक (Citygen सिटिजन) मनुष्य ऐसा है। मेधका अर्थ बुद्धिका विकास। नागरिक मनुष्योंकी बुद्धिका विकास करना नरमेधका उद्दिष्ट है। उत्तम शिक्षा द्वारा नागरिक जनोंकी बुद्धि विकसित हो सकती है, इसलिये (ब्रह्मणे) ज्ञान प्रचारके लिये (ब्राह्मण) ज्ञानीको (आ-लभते) नियुक्त करता है। "राजा, मनुष्योंका समाज अथवा राष्ट्र" ही यहां कर्ता है। राष्ट्रीयशिक्षा विभाग राष्ट्रके ज्ञानी मनुष्योंके आधीन रहना चाहिए। इसी प्रकार शौर्यविभाग पर क्षत्रियोंको नियुक्त करना चाहिए; क्षत्रिय लोग नगरोंमें, गांवोंमें और सब राष्ट्रमें दुष्टोंको दण्ड करके सुष्टोंका पालन करें; चोर, डाकू व्यभिचारी आदि दुष्टोंको यथायोग्य दण्ड करके उनको सुधारनेका यत्न करें, तथा उनकी दुष्टतासे दूसरे सज्जनोंको उपद्रव न पहुंचे ऐसी व्यवस्था करनेमें सदा तत्पर रहें। ज्ञानियोंका मुख्य काम ज्ञानका प्रचार करके तद्द्वारा अज्ञान और मिथ्याज्ञानका नाश करनेका मुख्य है, तथा धीरोंका काम दुष्टोंका दमन करके सज्जनोंको स्वातंत्र्य देनेका मुख्य है। उक्त कार्यके लिये वैश्य आगे आते हैं और धनसे सहायता देते हैं, तथा शूद्र भी अपनी शारीरिक मेहनतसे तथा कारीगरी अर्थात् कुशलतासे सहाय्य करते हैं। इस प्रकार चारों वर्णोंने मिलकर अपनी स्वसमत (self-determined) शिक्षा-विभागकी व्यवस्था अपने अपने राष्ट्रमें करना नरमेधका प्रयोजन है। जब स्पष्टीकरणके अर्थोंको पाठक स्वयं देखेंगे और सोचेंगे, उस समय उनकी भी इस विषयमें निःसंदेह अनुकूल संमति होगी इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। इसी प्रकार संरक्षण विभाग, शुद्धि विभाग आदि विभागोंके विषयमें समझा जा सकता है। इसलिये यहां इनके विषयमें कुछ भी अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

(२८) वैदिक परंपरा टूटनेके कारण कठिनता।

मूल वैदिक परंपरा आज विद्यमान नहीं है। उनपर अनेक आघात

(२) ईशतेजसो ध्यानम् ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ॥
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

(३) दुरित-निवारण, भद्र-सगमनञ्च ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ ३ ॥

(४) वसु-विभाग-प्रशसा ॥

विभक्तारं ँ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः ॥
सवितारं नृ-चक्षसम् ॥ ४ ॥

(२) [(२) ईश्वरके तेजका ध्यान]

अर्थ— (सवितु देवस्य) उत्पादक ईश्वरके (तत्) उस (वरेण्य) श्रेष्ठ (भर्ग) तेजका (धीमहि) हम सब ध्यान करते हैं। (यः) जो (नः) हम सबकी (धिय बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे ॥

भावार्थ— परमेश्वरके उत्तम तेजका हम सब ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको विशेष प्रेरणा अथवा चेतना देता है ।

(३) [(३) बुराइयोंको दूर करके भलाइयोंको पास करना]

अर्थ— हे (सवित देव) उत्पादक ईश्वर ! (विश्वानि दुरितानि) सब बुराइयोंको (परा-सुव) दूर करो, और (यत् भद्र) जो भलाई है (तत्) उसको (न) हम सबके पास (आ-सुव) ले आओ । भावार्थ— सब बुराइयोंको दूर करने तथा सब भलाइयोंको पास करनेके लिये सबका प्रयत्न होना चाहिए, और ऐसा करनेके लिये ही ईश्वरकी सहायताकी प्रार्थना करनी चाहिए ।

(४) [(४) धन विभागकी प्रशंसा ।]

अर्थ— (वसो) निवासके कारक और (चित्रस्य) विलक्षण (राधस)

दिये हैं, सबके सब बिलकुल ठीक होंगे। तथा जिन मन्त्रोंको जिस विभाग में रखा है, बिलकुल ठीक है। नहीं नहीं। ऐसा इस समय कहना बडे साहसका कार्य होगा। अभी इसका बडा विचार होना चाहिए, और वेदके अन्य स्थानोंके विधानोंके साथ इनकी तुलना करके इनके अर्थका निश्चय करना चाहिए।

यहां मैंने साधन एकत्रित किये हैं। जिनको सोच सोचकर आगेका काम स्वाध्यायशील विद्वान पाठकोंको करना चाहिए। विशेषतया प्रत्येक मन्त्रके गूढ अर्थके आशयका विचार होना चाहिए, तथा किस मन्त्रको किस विभागमें रखनेसे उसका आशय अधिक स्पष्ट हो सकता है इसका भी विचार करना चाहिए। संभव है कि जितने विभाग मैंने किये हैं उनसे अधिक विभाग करने पडेंगे अथवा कदाचित न्यून भी करनेसे कार्यभाग होगा। आशा है कि जिन जिन पाठकोंके हाथमें यह पुस्तक जायगा, अपनी संमति मुझे विदित करेंगे, जिससे कि मैं आगेके संस्करणमें इसको अधिक शुद्ध बना सकूंगा। बहुत सज्जनोंकी सहायतासे ही यह कार्य ठीक हो सकता है। आशा है कि पाठक इस कार्यमें सहायता देंगे।

तथा शतपथादि ब्राह्मणग्रंथ और सूत्रग्रंथोंके विषयमें जो जो संमति इस भूमिकामें लिखी है उसकी जिम्मेवारी इस समय केवल मेरे सिरपर ही है। जो जो विद्वान पुरुष विरुद्ध संमति रखते होंगे, उनको उचित है, कि वे अपने विचार लिखकर मेरे पास भेज दें, ताकि मैं उनके विचारोंको देखकर अपनी संमतिको ठीक कर सकूं।

" आनंदाश्रम " किल्ला पारडी जि. सूरत १ वैशाख शुक्ल २००७	}	लेखक पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर अध्यक्ष— स्वाध्याय-मण्डल

॥ ओ३म् ॥

यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

अध्याय ३०

पुरुष-मेध-प्रकरणम् ॥१॥

(१) यज्ञ-प्रेरणं यज्ञ-पालनं, ज्ञान-पावनं वाङ्माधुर्यं च ।

ॐ देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञ-पतिं
भगाय ॥ दिव्यो गन्धर्वः केत-पूः केतं नः
पुनातु ॥ वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ १ ॥

(१) [(१) सत्कर्मकी प्रेरणा सत्कर्मकी रक्षा ज्ञानसे पवित्रता और वाणीका माधुर्य] ।

अर्थ—हे (सवितः देव) उत्पादक ईश्वर । (भगाय) ऐश्वर्यके लिये (यज्ञं) सत्कर्मोंकी (प्रसुव) प्रेरणा कर तथा (यज्ञ-पतिं) यज्ञके पालकको (प्रसुव) प्रेरणा कर । (दिव्यः) दैवी गुणोंसे युक्त (गं-धर्वः) वाणीका पोषक और (केत-पूः) ज्ञानसे पवित्र करनेवाला (नः) हम सबके (केतं) ज्ञानको (पुनातु) पवित्र करे । तथा (वाचस्पतिः) वाणीका स्वामी (नः वाचं) हम सबकी वाणीको (स्वदतु—स्वादयतु) स्वादसे युक्त अर्थात् मीठी बनावे ॥

भावार्थ—परमेश्वर सबको सत्कर्म करनेकी तथा सत्कर्मका संरक्षण करनेकी बुद्धि देवे । अपने उत्तम ज्ञानसे पवित्रता करनेवाला ज्ञानी हम सबके ज्ञानकी पवित्रता करे । तथा उत्तम वक्ता हम सबकी वाणीको मधुर बनावे । जिससे हम सबकी उन्नति हो सके ॥

(२) ईशतेजसो ध्यानम् ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्यं धीमहि ॥
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

(३) दुरित-निवारण, भद्र-सगमनश्च ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ ३ ॥

(४) वसु-विभाग-प्रशसा ॥

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः ॥
सवितारं नृ-चक्षसम् ॥ ४ ॥

(२) [(२) ईश्वरके तेजका ध्यान]

अर्थ— (सवितु देवस्य) उत्पादक ईश्वरके (तत्) उस (वरेण्य) श्रेष्ठ (भर्ग) तेजका (धीमहि) हम सब ध्यान करते हैं। (यः) जो (नः) हम सबकी (धिय बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे ॥

भावार्थ— परमेश्वरके उत्तम तेजका हम सब ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको विशेष प्रेरणा अथवा चेतना देता है।

(३) [(३) बुराइयोंको दूर करके भलाइयोंको पास करना]

अर्थ— हे (सवित देव) उत्पादक ईश्वर ! (विश्वानि दुरितानि) सब बुराइयोंको (परा-सुव) दूर करो, और (यत् भद्र) जो भलाई है (तत्) उसको (नः) हम सबके पास (आ-सुव) ले आओ। भावार्थ— सब बुराइयोंको दूर करने तथा सब भलाइयोंको पास करनेके लिये सबका प्रयत्न होना चाहिए, और ऐसा करनेके लिये ही ईश्वरकी सहायताकी प्रार्थना करनी चाहिए।

(४) [(४) धन विभागकी प्रशंसा।]

अर्थ— (वसो) निवासके कारक और (चित्रस्य) विलक्षण (राधस)

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय
सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभं
हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे
कुमारी-पुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥ ६ ॥
तपसे कौलालं मायायै कर्मारं रूपाय
मणि-कारं शुभे वपं शरव्याया इषुकारं
हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्या-कारं दिष्टाय
रज्जु-सर्पं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥ ७ ॥

[१] ब्रह्मणे ब्राह्मणम् १।१
[२] क्षत्राय राजन्यम् २।१
[३] मरुद्भ्यो वैश्यम् ३।१
[४] तपसे शूद्रम् ४।१
[५] तमसे तस्करम् ४।२
[६] नारकाय वीरहणम् २।५
[७] पाप्मने क्लीबम् ५।६
[८] आक्रयायै अयोगुम् ३।२
[९] कामाय पुंश्चलूम् ५।१२
[१०] अतिक्रुष्टाय मागधम् १।१२

(६) [११] नृत्ताय सूतम् १।१४

[१२] गीताय शैलूषम् ५।१३
[१३] धर्मायसभाचरम् १।११
[१४] नरिष्ठायै भीमलम् २।४
[१५] नर्माय रेभम् १।१४
[१६] हसाय कारिम् ४।७
[१७] आनन्दाय स्त्रीषखम् ५।६
[१८] प्रमदे कुमारीपुत्रम् २।६
[१९] मेधायै रथकारम् २।२८
[२०] धैर्याय तक्षाणम् ४।११

(७) [२१] तपसे कौलालम् १।२

[२२] मायायै कर्मारम् ४।२
[२३] रूपाय मणिकारम् ४।४
[२४] शुभे वपम् ४।१२
[२५] शरव्यायै इषुकारम् २।२१
[२६] हेत्यै धनुष्कारम् २।२२
[२७] कर्मण ज्याकारम् २।२३
[२८] दिष्टाय रज्जुसर्पम् १।११
[२९] मृत्यवे मृगयुम् ७।१

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्नाम१० स्वप्नायाऽन्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्र-दर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षायां अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्न-विवाकम् ॥ १० ॥

अर्मेभ्यो हस्ति-पं जवायाऽश्व-पं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायावि-पालं तेजसेऽज-पालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुरा-कार भद्राय गृह-प२ श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् ॥ ११ ॥

[४६] निष्कृत्यै पेशस्कारीम् ४।५
[४७] संज्ञानाय स्मरकारीम् १।४
[४८] प्रकामोद्याय उपसदम् २।५५
[४९] वर्णाय अनुरुधम् २।५२
[५०] बलाय उपदाम् २।३

(१०) [५१] उत्सादेभ्य कुब्जम् २।१०

[५२] प्रमुदे वामनम् ५।८
[५३] द्वार्भ्यः स्रामम् २।४६
[५४] स्वप्नाय अन्धम् ५।४
[५५] अधर्माय बधिरम् ५।५
[५६] पवित्राय भिषजम् १।२६
[५७] प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् १।३८
[५८] आशिक्षायैप्रश्निनम् १।८
[५९] उपशिक्षायै अभिप्राश्निनम् १।९
[६०] मर्यादायै प्रश्नविवाकम्

मायै कार्माहार प्रमायां आग्नेय प्रमस्यं विष्पां
भामिषुकारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं
देव-लोकाय पशितारं मनुष्य-लोकाय प्रकरि
तारं सर्वेभ्यो लोकेभ्यं उपसेक्तारमवं ऋत्यै
वधायोपमथितारं मेधाय वासः पल्पूली
प्रकामाय रजयित्रीम् ॥ १२ ॥
ऋतये स्तेन-हृदयं वैर-हत्याय पिशुनं विविक्त्यै
क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं बलायाऽनुचरं
भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्या
अश्वसादं स्वर्गाय लोकाय भाग-दुघं वर्षिष्ठाय
नाकाय परिवेष्टारम् ॥ १३ ॥

(११) [७१] मायै कार्माहारम् ७।११
[७] प्रमायै आग्नेयम् ७।१७ | [७] प्रमस्य विष्पाय अभिषेक्तारम् १।२७
[७७] वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ७।१४ | [७५] देवलोकाय पेशितारम् ७।८
[७९] मनुष्यलोकाय प्रकरितारम् १।७५ | [७] सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम् १।५७
[७८] अवऋत्यै वधाय उपमथितारम् १।१७ | [७९] मेधायै वासः पल्पूलीम् १।२१
[ ] प्रकामाय रजयित्रीम् ७।१
(१९) [८१] ऋतये स्तेन हृदयम् १।१५
[८१] वैरहत्याय पिशुनम् ५।११ | [८३] विविक्त्यै क्षत्तारम् १।१०
[८४] ... अनुक्षत्तारम् १।१८ | [८५] बलाय अनुचरम् २।१

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय
योक्तार१ शोकायाऽभिसर्तारं क्षेमाय
विमोक्तारमुत्कूल-निकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं व-
पुषे मानस्कृत१ शीलायाञ्जनीकारीं
निर्ऋत्यै कोश-कारीं यमायाऽसूम् ॥ १४ ॥

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोका१ संवत्सराय
पर्यायिणीं परिवत्सरायाऽविजातामिदाव-
त्सरायाऽतीत्वरीमिद्वत्सरायाऽतिष्कद्वरीं वत्स-
राय विजर्जरा१ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽ-
जिनसन्ध१साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ १५ ॥

[८६] मूत्रे परिष्कन्दम् २।३२
[८७] प्रियाय प्रियवादिनम् ५।७
[८८] अरिष्ट्यै अश्वसादम् २।२४
[८९] स्वर्गाय लोकाय भागदुघम् १।२९
[९०] वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ४।१९

(१४) [९१] मन्यवे अयस्तापम् ४।१५ ।

[९२] क्रोधाय निसरम् १।३४
[९३] योगाय योक्तारम् १।१९
[९४] शोकाय अभिसर्तारम् २।३५
[९५] क्षेमाय विमोक्तारम् १।२८
[९६] उत्कूलनिकूलेभ्य त्रिष्ठिनम् २।३०
[९७] वपुषे मानस्कृतम् १।२१
[९८] शीलाय अजनी-कारीम् १।२२
[९९] निर्ऋत्यै कोशकारीम् १।३६
[१००] यमाय असूम् २।१२

(१५) [१०१] यमाय यमसूम् १।१३

[१०२] अथर्वभ्य अवतोकाम् १।२०
[१०३] सवत्सराय पर्यायिणीम् २।४६
[१०४] परिवत्सराय अविजाताम् १।४७
[१०५] इदावत्सराय अतीत्वरीम् २।४८

सरोभ्यो पैशरमुपस्थावराभ्यो दार्यं वैणन्ताभ्यो
बैन्द नड्वलाभ्यः शौष्कल पाराय मार्गारमवाराय
कैवर्तं तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालं
स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातं सानुभ्यो
जम्भकं पर्वतेभ्यः किंपूरुषम् ॥ १६ ॥
बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै
वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः
सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जन
वादिनं व्यृद्ध्या अपगल्भं संशराय प्रच्छिदम् ॥ १७

[१ १] इरम्मराय अभिक्षदारिम १।८ | [१ ०] वम्भाय विमर्तीयम् (१।७५)
[१ ८] वैवस्वताय वणिजम् १।७९ | [१ ९] वसुभ्य अभिषर्षवम् ३।११
[११] हावेभ्य वर्मकम् ३।१

(१६) [१११] सरोभ्यः धैवरम् १।१४
[११२] उपस्थावरेभ्यः दाशम् १।७३ | [११३] वैशन्ताभ्यः बैन्दम् १।१९
[११४] नड्वलाभ्यः शौष्कलम् १।७ | [११५] पाराय मार्गारम् १।७१
[११६] अवाराय कैवर्तम् १।७२ | [११७] तीर्थेभ्यः आन्दम् १।१५
[११८] विषमेभ्यः मैनालम् १।१८ | [११९] स्वनेभ्यः पर्णकम् १।११
[१२] गुहाभ्यः किरातम् १।१९ | [१११] सानुभ्यः जम्भकम् १।११
[१२२] पर्वतेभ्यः किंपुरुषम् १।१

(१७) [१२३] बीभत्सायै पौल्कसम् १।७५
[१२४] वर्णाय हिरण्यकारम् १।८ | [१२५] तुलायै वणिजम् १।१
[१२६] पश्चादोषाय ग्लाविनम् | [१२] विश्वेभ्य भूतेभ्यः सिध्म

अक्ष-राजायं कितवं कृतायादिनव-दर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापारायाऽधिकल्पिनमास्कन्दाय सभा-स्थाणु मृत्यवे गो-व्यच्छमन्तकाय गो-घातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम् ॥ १८ ॥

प्रतिश्रुत्काया अर्तन घोषाय भषमन्ताय बहुवा-दिनमनन्ताय मूक४ शब्दायाऽऽडम्बराघातं महसे वीणा-वाद क्रोशाय तूण-वध्ममवरस्पराय शखध्म वनाय वनपमन्यतोऽरण्याय दावपम् ॥१९॥

[१२८] भूत्यै जागरणम् ५।१
[१२९] अभूत्यै स्वपनम् ५।२
[१३०] आर्त्यै जनवादिनम् १।१८
[१३१] व्यृद्ध्यै अपगल्भम् ५।३
[१३२] संशराय प्रच्छिदम् ७।६

[१८] (१३३) अक्षराजाय कितवम् ०।५७

[१३४] कृताय आदिनवदर्शम् २।५८
[१३५] त्रेतायै कल्पिनम् २।५९
[१३६] द्वापाराय अधिकल्पिनम् २।६०,
[१३७] आस्कदाय सभास्थाणुम् २ २७
[१३८] मृत्यवे गोव्यच्छम् ७।२
[१३९] अन्तकाय गो घातम् ७।३
[१४०] क्षुधे यो गां विकृन्तन्त भिक्षमाण उपतिष्ठति ७।५
[१४१] दुष्कृताय चरकाचार्यम् १।२७
[१४२] पाप्मने सैलगम् २।११

[१९] (१४३) प्रतिश्रुत्कायै अर्तनम् १।२०

[१४४] घोषाय भषम् १।१५
[१४५] अन्ताय बहुवादिनम् १।१६
[१४६] अनन्ताय मूकम् १।१७
[१४७] शब्दाय आडम्बराघातम् ४।२०

अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च ॥ अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥२२

[१६८] सूर्याय हर्यक्षम् १।४०
[१६९] नक्षत्रेभ्य किर्मीरम् १।४१
[१७०] चन्द्रमसे किलासम् १।४२
[१७१] महे शुक्लं पिंगाक्षम् २।६५
[१७२] राम्यै कृष्ण पिंगाक्षम् २।६६

(२०) अथ एतान् अष्टौ विरूपान् आलभते। ते अष्टौ अशूद्रा अब्राह्मणा प्राजापत्या ।

[१७३] अतिदीर्घम् ६।१
[१७४] अतिह्रस्वम् ६।२
[१७५] अतिस्थूलम् ६।३
[१७६] अतिकृशम् ६।४
[१७७] अतिशुक्लम् ६।५
[१७८] अतिकृष्णम् ६।६
[१७९] अतिकुल्वम् ६।७
[१८०] अतिलोमशम् ६।८

अथ पुन अशूद्रा अब्राह्मणा प्राजापत्या चत्वार. ॥

[१८१] मागध ६।९
[१८२] पुंश्चली ६।१०
[१८३] कितव ६।११
[१८४] क्लीव ६।१२

अध्याय ३० का स्पष्टीकरण।

पुरुषमेध प्रकरण १. (पूर्वार्ध)

मंत्र १

(१) सत्कर्मकी प्रेरणा, सत्कर्मकी रक्षा, ज्ञानस पवित्रता और वाणीका माधुर्य।

मेध शब्दका अर्थ मिलना, परस्पर संगति करना, मिलाप करना जोडना परस्परको जानना परस्परका भाव समझना परस्पर प्रेम करना परस्परकी उन्नति करना है। पुरुष शब्दका अर्थ मनुष्य मानवजाति नागरिक, वीर है। अर्थात् पुरुषमेधका अर्थ मनुष्योंका परस्पर मेलमिलाप करना परस्पर संगति करना परस्पर जानना परस्परका प्रेम बढाना ऐक्य भाव बढाकर परस्परकी उन्नति करनेके लिये एक दूसरेको सहाय्य करना है। यह पुरुषमेधका मूल आशय है। इस आशयकी पूर्ति करनेके लिये भिन्न भिन्न अनेक साधनोंकी आवश्यकता है, उनका वर्णन इस अ १ तथा आगेके अ० ३१ में हुआ है। उक्त कर्मोंकी सफलता और सुफलता होनेके लिये निम्न गुणोंका धारण करना चाहिए। (१) मनुष्योंमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा होनी चाहिए, (२) कोई अन्य पुरुष सत्कर्म करता हो तो उसको सहायता करके, उसके सत्कर्मका संरक्षण और संव-

धन करनेकी प्रबल इच्छा चाहिए, (३) ज्ञानसे अपने आपको शुद्ध करके सब अन्योंको शुद्ध करनेका प्रयत्न होना चाहिए, तथा (४) वाणीके अदर मीठा परतु हितकारक, भाषण करनेकी शक्ति बढानी चाहिए। यही उद्देश प्रथम मत्रका है।

" परमेश्वर सबको सत्कर्म करनेकी तथा सत्कर्मका सरक्षण करनेकी बुद्धि देवे। अपने ज्ञानसे पवित्रता करनेवाला ज्ञानी हम सबके ज्ञानको पवित्र करे। तथा उत्तम वक्ता हम सबकी वाणीको मधुर बनावे। जिससे हम सबकी उन्नति हो सके॥ "

यह आशय प्रथम मंत्रका है। उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंके अदर जिन जिन गुणोंका विकास होनेकी आवश्यकता है, उन गुणोंका उल्लेख उक्त मत्रमें है। (१) सत्कर्मकी प्रेरणा, (२) सत्कर्मका सरक्षण, (३) ज्ञानसे पवित्रता और (४) वाणीका माधुर्य, ये चार सद्गुण हैं जिनसे कि, मनुष्योंमें सबशक्तिका तेज प्रकाशने लगता है। इस आशयको ध्यानमें रखकर अब इस मत्रका विचार करेंगे —

" देव सवितः "

' सविता देव ' परमेश्वरका नाम है। देखिए—

' सविता वै देवाना प्रसविता '

(शत ब्रा १।१।२।१७)

सूर्य, चद्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि सब देवोंका उत्पन्न कर्ता परमेश्वर है। उसकी प्रार्थना इन दो शब्दोंसे की है। सब देवोंकी उत्पत्ति सविता करता है, इस विषयमें निम्न मत्र देखने योग्य है–

युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान्॥

(यजु ११।३)

" सविता देव (तान्) उन देवोंको (प्रसुवाति) उत्पन्न करता है, कि

जो (बृहत् ज्योतिः) बडा तेज फैलाते हैं, और (धिया) अपने कर्तव्य कर्मोंसे (दिवं स्वः यत) द्युलोकमें प्रकाशको फैलाते हैं। इन देवोंको (सविता) सबका उत्पादक ईश्वर (प्रसुवाति) अपने अपने कर्मोंमें नियुक्त करता है।"

सविता देव सूर्यादि सब तेजस्वी पदार्थोंको उत्पन्न करके उनको अपने अपने मार्गसे चलन आदि कर्ममें लगा देता है। पृथ्वीका कर्म अन्न उत्पन्न करना सूर्यका कर्म प्रकाश देना वायुका कर्म जीवनशक्ति देना है। इन कर्मोंमें परमेश्वरकी शक्तिसे ये सब देव नियुक्त हुए हैं। इस मंत्रको देखनेसे सविता शब्दका अर्थ परमेश्वर ही है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। परमेश्वरका वर्णन यजु. अ ११ का स्वाध्याय सर्व-पूज्यकी पूजा नामसे छप चुका है उसमें देखने योग्य है। सविताका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मणमें है-

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः।।

(तैत्ति ब्रा १।१ ।१।९)

सविता सबका उत्पादक है। वह स्वयं तेजस्वी है, और सबको प्रकाशित करता है। इत्यादि प्रकारका वर्णन देखनेसे निश्चय होता है, कि सविताका मूल अर्थ परमेश्वर है पश्चात् इस शब्दका सूर्य ऐसा अर्थ हुआ।

षू धातुसे सविता शब्द बनता है। प्रसव ऐश्वर्य प्रेरणा' ये तीन अर्थ इस धातुके हैं। (१) उत्पन्न करना (२) प्रभुत्व करना और (३) प्रेरणा करना ये तीन भाव 'सविता' शब्दमें हैं। सबको कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाला परमेश्वर ही सविता है।

'प्रसुव यज्ञम्।'

यज्ञकी प्रेरणा करो यह इस मंत्रकी पहली प्रार्थना है। यज्ञस्वरूप कर्म अर्थात् अत्यंत उच्च कर्मका नाम यज्ञ है। यजु १ अ १ में कहा

है कि, 'देवो व सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् ।' हे लोको ! आप सबको परमेश्वर अत्यंत उत्तम कर्मोंके लिये प्रेरणा करे । आप सब उच्च कर्मोंको करते हुए उन्नत होइए ॥ यह उपदेश यजुर्वेदके प्रारंभमें ही है । सब यजुर्वेदमें 'श्रेष्ठतम कर्म' का ही अधिकार चलता है । यजुर्वेदका अर्थ 'श्रेष्ठतम-कर्मका' शास्त्र (Science of holy action) ऐसा है। इसलिये संपूर्ण यजुर्वेदमें 'यज्ञ अथवा कर्म' का अर्थ 'श्रेष्ठतम कर्म' ऐसा ही है। 'श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा करो' यह उपदेश इस वाक्यसे मिलता है । प्रत्येक मनुष्यमें अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेकी महत्वाकांक्षा चाहिए और प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये अन्योंको प्रेरणा देता रहे। सर्वत्र उत्साहकी प्रेरणा होनी चाहिए। वैदिक धर्म ही 'उत्साहका धर्म' है । इसलिये प्रारंभसे अंततक अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेका उत्साह वैदिक धर्ममें दिया गया है।

उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये आठ गुण वैदिक धर्मके आधार हैं, उत्साह स्फूर्ति और प्रेरणा ये तीन गुण इस वैदिक धर्मका जीवन है, (१) सत्कर्म करनेमें किसी प्रतिबंधकी पर्वाह न करना, (२) सत्कर्म करनेके कार्यमें आनेवाली सब आपत्तियोंको आनंदसे सहन करना (३) सत्कर्म करनेके लिये अपने आपको योग्य बनानेके कारण आंतर और बाह्य इंद्रियोंको अपने आधीन रखना, (४) किसी समय और किसी कारण भी चोरीका भाव न धरना, (५) सब कालमें, सब अवस्थाओंमें सब प्रकारकी पवित्रता रखना, (६) सदा सर्वदा सात्त्विक बलको धारण करना (७) सदा सर्वदा अपनी बुद्धिका तेज ज्ञानसे बढाना, (८) सदा सर्वदा सत्यके ऊपर दृढ रहना, (९) कभी क्रोध न करना क्योंकि क्रोधसे अपना ही नुकसान हुआ करता है, इसलिये सब प्रकारकी अवस्थामें मन, बुद्धि और आत्मको शांत रखना,

चलते हैं अर्थात् आचरण करते हैं। हे (सुविजात नर इन्द्र) बलवान, अग्रणी प्रभू! (ये) जो लोग (अन्नै) अन्नोंके द्वारा लोगोंको सहाय्य करते हैं, तथा जो (ते पूर्वाः गिर) तेरा पूर्व अथवा प्राचीन उपदेश हरएकको (प्रति शिक्षन्ति) सिखाते हैं।" उनको प्रेरणा करो।

(१) परमेश्वरका संदेश दूसरोंतक पहुँचानेवाले, (२) अन्नके द्वारा दूसरोंकी सहायता करनेवाले, और (३) परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार अपना आचरण करनेवाले जो होते हैं, उनको कष्टोंसे पार होनेके लिये तथा अधिकाधिक पुरुषार्थ करनेके लिये परमेश्वरसे प्रेरणा होती है। यह आशय उक्त मंत्रका है। परमेश्वरकी प्रेरणा अपने अंतःकरणमें धारण करनेके लिये कौन पुरुष योग्य है इसका उपदेश इस मंत्रसे मिलता है। मनुष्योंको भी उचित है कि, वे स्वयं सत्कर्ममें प्रेरित होकर दूसरोंको भी उच्च कर्मोंके लिये सदा सर्वदा उत्साहित करते रहें॥

" प्रसुव यज्ञ-पतिं भगाय। "

'(भगाय) ऐश्वर्यके लिये यज्ञके पालन-कर्ताको प्रेरणा करो।' यह इच्छा इस मंत्रभागमें व्यक्त हुई है। यहां 'भग' शब्दका अर्थ देखना है। भग— उन्नति, अभ्युदय, महत्ता, महत्त्व; विशेषता, यश, प्रताप, सुंदरता; उत्तमता, उत्कृष्टता, प्रीति, सद्गुण, नीतिधर्म; प्रयत्न, पुरुषार्थ; वैराग्य, निस्पृहता, स्वास्थ्य, मुक्ति, बल, इच्छाशक्ति। 'भग' शब्दके इतने अर्थ हैं, इन गुणोंकी प्राप्तिके लिये सत्कर्मके पालन कर्ताको प्रेरणा करो; अर्थात् सत्कर्मोंका संरक्षण करके, इन गुणोंका धारण, पालन और पोषण करना चाहिए। 'पति' का अर्थ 'पालक' है पश्चात् उसका 'स्वामी' अर्थ हुआ है।

सत्कर्मकी प्रेरणा और सत्कर्मका संरक्षण ये उन्नतिके दो साधन हैं। स्वयं सत्कर्म करना, स्वयं अच्छा पुरुषार्थ, अच्छा उद्योग करना और दूस–रोंको वैसा करनेके लिये प्रेरणा करना तथा दूसरे लोग जो जो उत्तम

" (ये) जो (सु-विद्वास) उत्तम विद्वान् (विश्वतो धार यज्ञं) सब प्रकारसे धारण-पोषण करनेवाले सत्कर्मोंको (वि-तेनिरे) विशेष प्रकार से फैलाते हैं, वे (रोदसी द्यां रोहन्ति) दोनों लोकोंमेंसे ऊपर होते हुए स्वर्ग पर चढते हैं, और (स्वः यन्त) अपने तेजको फैलाते हुए (न अपेक्षन्ते) किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करते । "

' यज्ञ ' का यौगिक अर्थ ।

' यज्ञ ' का अर्थ—सत्कार, सगति दान इस प्रकार है । ' न अपेक्षन्ते ' का अर्थ वे किसीकी अपेक्षा नहीं करते, यह सत्कर्मका फल है । तथा--

यज्ञं तप ॥ तैत्ति० आ० १०।८।१ ॥

" यज्ञ एक प्रकारका तप ही है । " अथवा तपसे ही यज्ञ होता है । सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको सहना ही तप है । जो लोग इन्द्रियोंके सुखोंके लिये ही कार्य करते हैं, उनसे सत्कर्म नहीं हो सकता । सत्कर्म करनेके लिये स्वार्थी इन्द्रिय-सुखोंकी लालसा कम करनी पडती है । इस प्रकार अपना सुख कम करके दूसरोंका सुख बढानेके लिये जो प्रयत्न होते हैं, वे यज्ञरूप होते हैं ।

इस प्रकारके यज्ञ जो करते हैं, और जो सत्कर्मोंका संवर्धन करते हैं वे " यज्ञपति " कहलाते हैं । सघशक्ति बढानेमें इस प्रकारके पवित्र कर्म करनेवालोंकी बहुत आवश्यकता होती है । इसालिये ऐसे सज्जनोंको उचित है, कि वे स्वयं सत्कर्म करते हुए वैसे सत्कर्म करनेके लिये दूसरोंको भी प्रेरित करते रहें ।

" दिव्यो गन्धर्वः केत-पूः केतं नः पुनातु । "

' गा वाच धारयतीति गं--धर्व ॥ ' महीधर भाष्य यजु० ११।७॥ उत्तम वाणीका धारण करनेवाला जो उत्तम वक्ता होता है, उसका नाम ' ग धर्व ' होता है । उत्तम गायकोंको भाषामें गधर्व कहते हैं । इस प्रकारका जो

शिष्यगुणयुक्त मनुष्य होता है वह अपने ज्ञानसे हम सबके ज्ञानको पवित्र करे। यह इच्छा इस मंत्रमें है। ज्ञानीके ज्ञानद्वारा साधारण मनुष्योंके ज्ञान पवित्र होते हैं। भक्तोंद्वारा भिक्षुओंका उद्धार होता है। गुरु अथवा अध्यापकों द्वारा शिष्योंकी बुद्धि पवित्र होती है। शूरों द्वारा अबलोंकी रक्षा होती है। यही उपदेश आगे इसी अध्यायमें आयेगा है, जैसा

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्।

यजु० ३०। ५॥

ज्ञानके लिये ज्ञानीको और वीर्यके लिये क्षत्रियको प्राप्त करो।" जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे ज्ञानीके पास चले जावें तथा जो वीर्य प्राप्त करना चाहते हैं वे शूरोंके पास जावें। श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर श्रेष्ठ गुणोंकी प्राप्ति करनी चाहिये। यही उपनिषद्का मत है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ॥

कठ उप० ३।१४

"उठो जागो और श्रेष्ठोंको प्राप्त करके बोध प्राप्त करो" श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषोंके पास जाकर श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त करके उन गुणोंका अपने अन्दर धारण पोषण और संवर्धन करना चाहिए। और जब वे श्रेष्ठगुण अपने अन्दर बढ जायेंगे, तब दूसरोंको प्राप्त करानेके लिये अपने शुभ गुणोंकी मर्यादा न करते हुए, सर्वत्र प्रचार करना चाहिए।

केत शब्दमें कित् धातु है जिसका अर्थ- जानना, सोचना विचार करना, दुःख दूर करना, दुरुस्त करना, प्रकट करना, आराम पहुंचाना, जीना, इच्छा करना है। इस कारण केत शब्दका यौगिक अर्थ ज्ञान विचार चिकित्सा दुरुस्ती सफाई जीवनशक्ति इच्छाशक्ति इत्यादि है। स्वयं अपने अन्दर इन गुणोंकी स्थापना करके, दूसरोंको इनकी प्राप्ति करानेके लिये उत्साहित करना चाहिए। देखिए, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी बनाना स्वयं सुविचार करके दूसरोंको सुविचार-

शील बनाना, स्वय दूसरोंके दुःख दूर करके वैसे कार्योंमें दूसरोंको लगाना, स्वय दूसरोंका भला करके दूसरोंको अन्योंकी भलाई करनेके लिये उत्साहित करना, स्वयं अपना जीवन पवित्र करके दूसरोंका जीवन पवित्र कराना, स्वयं अपनी इच्छाशक्तिका बल बढाकर दूसरोंकी इच्छा-शक्ति बढानेका प्रयत्न करना। यह भाव उक्त मन्त्रमें है।

" वाचस्पतिः वाचं नः स्वदतु।"

' वाणीका स्वामी हम सबकी वाचाको मीठी बनावे।" जो वाचाका उपयोग अच्छी प्रकार कर सकता है उसको वाचाका स्वामी कहते हैं। सरस्वती अर्थात् विद्या विद्वानकी दासी बनकर उसकी सेवा करती है, ऐसा कवी लोक वर्णन करते हैं। जिनकी वाणी मीठी होती है, परतु जिनका उपदेश परिणाममें हितकारक होता है, वे विद्वान् उपदेश करके हम सबकी वाणी मीठी बनावें। धर्मके उपदेशक ऐसे ही मधुरभाषी होने चाहिए।

वाणीमें मिठास न होनेसे लडाई झगडे, फिसाद, तथा द्वेष होते हैं। इसलिये वाणीमें मिठास रखनेका उपदेश किया है। ' स्वदतु ' का अर्थ *' स्वादयतु ' अर्थात् ' स्वाद उत्पन्न करे,' मधुर बनावे, मीठी बनावे'* ऐसा है। वाचस्पतिका कार्य अथर्ववेदके प्रथम सूक्तमें दिया है-

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत ॥
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ॥
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ॥
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् ॥
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

अथर्व १।१ ॥

(१) जो त्रि-गुणित सात तत्त्व जगतके सब रूपोंको धारते हैं (२) मेरे शरीर आज वाचाके स्वामीकी कृपासे उन तत्त्वोंके बलोंको धारण करें। (३) हे वाणीके स्वामी! दिव्य गुणयुक्त मनके साथ तू फिर हमारे पास आ। (४) मैंने जो कुछ ज्ञान सुना है वह मेरे अंदर सदा रहे॥ (५) जिस प्रकार धनुष्यकी कोटियें धनुष्यके दोनों ओर तने रहते हैं उस प्रकार यहां मेरे दोनों शरीर ज्ञानकी कोटियें जैसे युक्त रहें। वाचाके पतिकी कृपासे सुना हुआ ज्ञान मेरे अंदर रहे॥ (६) वाणीके पतिका हम सब वर्णन करते हैं, वह भी हम सबकी सहायता करे। (७) हमभी स्वाध्यायद्वारा (श्रुतेन) श्रेष्ठ ज्ञानसे (सं गमेमहि) हम सब युक्त हों। (८) कोई मनुष्य ज्ञानके साथ विरोध न करे॥

प्रथम सूक्तके कर्तव्य इस सूक्तमें अच्छी प्रकार कहे हैं। (१) जगत्के रूपोंका ज्ञान प्राप्त करना (२) शरीरका बल वृद्धिगत करना (३) मन दिव्य गुणोंसे युक्त करना (४) ज्ञानकी जागृति सदा रखना (५) शरीर और मनका संबंध दृढ रखना (६) विज्ञान और अभिज्ञान दोनोंमें एक दूसरेकी सहायता करना, (७) सदा सर्वदा ज्ञान प्राप्त करते रहना (८) ज्ञानका कभी विरोध न करना। ये उपदेश हैं कि जो ज्ञानीके तथा साधारण मनुष्योंके भी सदा ध्यानमें रखने चाहिए। और देखिये—

वाचस्पतिस्त्वा पुनातु (मैत्रायणी सं० १।२।१)

वाणीका स्वामी मुझे पवित्र करे। " अपनाको पवित्र करना क्योंकि अंतःकरणोंको शुद्ध, निर्मल, सतेज और सत्त्वमयी बनाना प्रथम कर्तव्य ही कार्य है।

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय ॥

(अथर्व १३।१।१९)

हे वाणीके स्वामी हमारे अंदर उत्तम मनस्ताके साथ मन तथा

(गा) उत्तम इंद्रिय, हम सबके इन्द्रियस्थानमें स्थिर करो " लोगोंका मन सुसस्कृत करना उत्तम वक्ताका कार्य है । उत्तम लेखकका भी यही कार्य समझा जा सकता है । वाणीकी शक्ति बडी भारी है, इसलिये उसका अच्छा ही उपयोग करना चाहिए, देखिए—

वाचा देवता (काठक सं ३५।१५)
वाचा ब्रह्म (तै स ७।१।१४।१)

" वाचा बडी देवता है । " " वाक्शक्ति साक्षात् ब्रह्म है । " इतनी बडी शक्ति मनुष्योंके पास ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुई है । परन्तु शोक है कि उस वाक्शक्तिका कितना दुरुपयोग लोग कर रहे हैं, और झगडे खडे करके अपना ही नाश कर रहे हैं ! ! इसलिये सब लोगोंको उचित है कि बोलने तथा लिखनेके समय सोचकर मधुरताके साथ ही शब्दोंका प्रयोग किया करें, जिससे आपसमें मित्रता बढेगी और आपसका शत्रुत्व हट जायगा । वाणीकी मधुरताके विषयमें अथर्व वेद कहता है—

जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ॥
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥
मधुमन्मे निष्क्रमण मधुमन्मे परायणम् ॥
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसदृश ॥ ३ ॥

अथर्व० १।३४ ॥

" मेरी जिह्वाके अग्र भागमें माधुर्य है । (२) मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता है । (३) इसलिये यहा (मम क्रतौ) मेरे सत्कार्यमें आओ और मेरे चित्तके साथ मिलो ॥ (४) मेरा चालचलन मीठा है (५) मेरा व्यवहार मीठा है । (६) मैं वाणीसे मीठा भाषण करता हू जिससे मैं मधुरताकी मूर्ति बनूगा ॥ "

अपनी वाणी, अपना कर्म, अपना चालचलन, अपना सब व्यवहार माधुर्यके साथ करने चाहिए । माधुर्यकी मूर्ति बनकर समाजके अन्दर

देवत्वकी शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपने धर्म अपने कर्म और अपने व्यवहारको सोच इन मंत्रोंमें कहे हुए उपदेशके अनुसार आत्मिसमान करे और मंत्रमें कहा हुआ आदर्श मनुर-पुरुष अपनेमें प्रकट दृढ इच्छापूर्वक करे।

अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका विचार करनेके पश्चात् अब दूसरे मंत्रका विचार करें–

मंत्र २

(१) ईश्वरके तेजका ध्यान।

उपासना।

" परमेश्वरके उस श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान करते हैं कि जो हम सबकी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है।

परमेश्वरमें सब श्रेष्ठ गुणोंकी पराकाष्ठा है। शक्ति, बल तेज ज्ञान पवित्रता आदि सब श्रेष्ठ सद्गुण उसमें अपरिमित हैं। प्रत्येक गुणकी परमावधिकी कल्पना ही परमेश्वरकी कल्पना है। इसलिये उसका ध्यान अथवा उसकी उपासना करनेके समय उसके एक एक गुणके अपरिमित महत्त्वका चिंतन करना चाहिए। अपरिमित सामर्थ्य अपरिमित तेज अपरिमित पवित्रता, अपरिमित ज्ञान अपरिमित आनंदका चिंतन करनेसे परमेश्वरका ध्यान होता है। इस प्रकार गुणोंका चिंतन करना सगुण उपासना है।

मनुष्य जिसका चिंतन करता है, वैसा ही वह बनता है। यदि वह उत्कृष्ट सद्गुणोंका चिंतन करेगा तो वह उत्कृष्ट सद्गुणोंसे सुशोभित होगा। परंतु किसी कारण दूसरोंकी बुराइयोंका चिंतन करता रहेगा तो वह स्वयं कालांतरके पश्चात् उन बुराइयोंसे युक्त होगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपना ध्यान उत्कृष्ट सद्गुणोंमें ही स्थिर करनेका अभ्यास करना उचित है।

मनुष्योंके इतिहासका विचार करनेके समय भी, किन किन सद्गुणोंसे ऐतिहासिक पुरुषोंकी उन्नति हुई थी, इसीका विशेष चिंतन करना चाहिए, न कि उनके दुर्गुणोंका। प्रत्येक मनुष्यमें सद्गुण और दुर्गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे रहते ही हैं। हमको उचित है कि उनके सद्गुणोंकी ओर हम देखें और उनके दुर्गुणोंका चिंतन न करें। दस मनुष्योंके चरित्रोंसे दस सद्गुण ग्रहण किये जाय तो अपने पास दस सद्गुण बढ सकते हैं, परंतु यदि उन दस पुरुषोंके चरित्रोंसे हम दस दुर्गुण ही लेवें, तो हम दस दुर्गुणोंसे दुष्ट बन सकते हैं। इसलिये ' सदा सर्वदा अपने मनको सद्गुणोंके मनन में ही लगाना ' चाहिए।

> यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति ।
> यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ।
> यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते ॥

" जिस प्रकार मनसे विचार होता है उस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है, जिस प्रकार वाणीसे उच्चार होता है उस प्रकार आचार बनता है, जिस प्रकार आचार बनता है, वैसा मनुष्य बन जाता है। " यह सबको ध्यानमें धरना चाहिए और विचार, उच्चार, आचारकी पवित्रता करनी चाहिए। इसी हेतुसे कहा है कि भवशक्ति बनानेवालोंको परमेश्वरके ' श्रेष्ठ तेजका ही ध्यान ' करना चाहिए। श्रेष्ठ गुणोंका चिंतन करनेसे उच्च मार्ग पर चलनेकी प्रेरणा होती है। अस्तु इसी गुरुमंत्रके समान एक मंत्र है, उसका यहां विचार करना उचित है—

दिये हुए भोग्य पदार्थों पर सबका अधिकार, (२) विजयी उत्साहकी शक्तिसे सबका धारण, पोषण और वर्धन, (३) अपने यशसे अपना विस्तार तथा (४) सबका प्रेम, ये चार बातें जिस स्वराज्यमें होंगी वह स्वराज्य स्थिर और दृढ होगा। परन्तु जिस राज्यमें (१) उपभोगोंके पदार्थों पर सबका समान अधिकार नहीं, (२) सबमें निरुत्साह होगा, (३) अपने यशकी जहां संभावना न होगी, (४) और जहां सबका परस्पर प्रेम न होगा, वहां राज्यकी स्थिरता नहीं हो सकती।

तात्पर्य (१) समान उपभोग, (२) उत्साह शक्ति, (३) स्वकीय-यशकी आशा और (४) परस्पर प्रेम, ये चार गुण राज्य स्थिरता करनेवाले हैं। तथा (१) उपभोगोंकी विषमता, (२) निरुत्साह (३) अपयश (४) परस्पर द्वेष, ये दुर्गुण राज्यका नाश करनेवाले हैं। अस्तु उक्त मंत्रमें 'सवितुः देवके भर्ग' नामक उग्र तेजकी धारणा करना ध्वनित किया है। 'भर्ग' नामक तेज परमेश्वरका है, परंतु उस तेजका धारण मनुष्यको करना चाहिए। इस 'भर्ग' के सहचारी गुणोंका भी यहां विचार करना उचित है। देखिए

३३ वीर्य।

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह
ओजो वयो बलम् ॥ त्रयस्त्रिंशद् यानि वीर्याणि
तान्यग्निः प्रददातु मे ॥ १ ॥ वर्च आ धेहि मे
तन्वां सह ओजो वयो बलम् ॥ इन्द्रियाय त्वा
कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥ २ ॥
ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ॥ अभि
भूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशार-
दाय ॥ ३ ॥ (अथर्व० १९।३७)

(अग्निना) तेजस्वी ईश्वरने (इदं वर्चः) यह सामर्थ्य मुझे दिया।

(१ ओज) शारीरिक बल, (२ तेज) तेजस्विता, (३ सह) सहन शक्ति, (४ बलं) आत्मिक बल, (५ वाक्) वाचाकी शक्ति, (६ इन्द्रिय) इन्द्रियोंकी शक्तियां, (७ श्री) शोभा, (८ धर्म) कर्तव्य पालन करनेका स्वभाव, (९ ब्रह्म) ज्ञान, (१० क्षत्र) शौर्य, (११ राष्ट्रं) राष्ट्रशक्ति, (१२ विश) वैश्योंकी व्यापारकी शक्ति, (१३ त्विषिः) अधिकार शक्ति, (१४ यश) सन्मान, (१५ वर्च) सामर्थ्य, (१६ द्रविण) पैसा, धन, (१७ आयु) दीर्घ आयु, (१८ रूपं) सौन्दर्य, सुन्दरता, (१९ नाम) नामका अभिमान, (२० कीर्ति) नेकनामी, प्रसिद्धि, (२१ प्राण) जीवनशक्ति, (२२ अपान) रोगनिवारक शक्ति, (२३ चक्षु) सूक्ष्मदृष्टि, (२४ श्रोत्र) ज्ञानमें प्रवीणता, (२५ पय) वीर्यका बल, (२६ रस) रुचि, प्रेम, सहृदयता–हमदर्दी, सौंदर्य, सत्व, (२७ अन्न अन्नाद्य च) खान पान, (२८ ऋत) न्यायानुकूल यथायोग्य नियमपूर्वक बर्ताव, (२९ सत्य) सत्यता, (३० इष्ट) अपना हित, (३१ पूर्त) जनहित, दूसरोंका भला करना, (३२ प्रजा) सतति, (३३ पशव) गाय, बैल, घोडा आदि पशु, अथवा अशिक्षित मनुष्य ॥

ये ३३ वीर्य हैं कि जो ' भर्ग ' नामक तेजके साथ रहते हैं। ' भर्ग ' की उपासना करनेके समय तथा उसका चिंतन करनेके समय इनका भी चिंतन करना चाहिए। क्योंकि उनको छोडकर मनुष्यके पास ' भर्ग ' नहीं आसकता, तथा ' भर्ग ' को छोडनेसे ये ३३ वीर्य नहीं प्राप्त हो सकते।

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि, वह इन वीर्योंको अपने पास करनेका प्रयत्न अहर्निश करे। इनमें कई शक्तिया अपने अंदर ही बढानेवाली हैं तथा कई बाहरसे प्राप्त होनेवाली हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके अपना लाभ कर सकते हैं।

अस्तु इस प्रकार ' भर्ग ' का विचार करके इस मंत्रका विचार यहीं समाप्त करके अगला मंत्र देखेंगे -

——×०×——

(१) दुराध्य =(दु + आढ्य)= निर्धनता, गरीबी, दीनता, दारिद्र।
(२) दुरापना =(दु + आपना)= जीतनेके लिये कठिन।
(३) दुरात्य = (दु + आत्य) = पार होनेकी कठिनता।
(४) दुरित = (इसका अर्थ ऊपर दिया है।)
(५) दुरुक्त = (दु + उक्त) = कठोर भाषण, अपमानकारक भाषण, निन्दा, दुःखदायक शब्द।
(६) दुरेव = (दु + एव) बुरा चालचलन कुटिल मनुष्य, कुटिलता, टेढी चाल, अपराधी।
(७) दुरोक = (दुः + ओक) = नापसंद, अ-सभा-धान-कारक, जिसके आश्रयसे परिणाममें अहित होता है॥
(८) दुष्कृत = बुरा कर्म, पापी आचरण।
(९) दुर्ग = कठिनता, विपरीत अवस्था।
(१०) दुर्गृभिः = काबू करनेके लिये कठिन।
(११) दुदन्यवन = इकठ्ठा करनेकी कठिनता।
(१२) दुर्दृशीक = जिसका दर्शन बुरा है।
(१३) दुर्धर्तव = धारण करनेकी, स्वाधीन रखनेकी कठिनता।
(१४) दुर्धा = बुरा हुकुम, बुरा शासन, अव्यवस्था।
(१५) दुर्ध्या = दुष्ट विचार, दुष्टताका ध्यान करना।
(१६) दुर्नामन् = बुरा नाम, अपयश, दुष्कीर्ति।
(१७) दुर्नियन्तु = नियमन करनेके लिये कठिन, ममन करनेकी कठिनता।
(१८) दुष्पदा = बुरा स्थान।
(१९) दुर्भृति = खानपानकी न्यूनता, दुष्कालकी अवस्था, भरण-पोषण न होनेकी हालत।
(२०) दुर्मति = दुष्ट बुद्धि, बुरा विचार, मूर्खता, कुटिलता,
(२१) दुर्मद = मूर्ख, क्रोधी, अविचारी।

(२२) दुर्मन्मन् = बुरा मनवाला बुरा विचार करनेवाला।

(२३) दुर्मर्षः = बुरा शत्रु असह्य दुराग्रही।

(२४) दुर्मायुः = जिसका चित्त बिगड़ा है अथवा पापिका सिखाउ, क्रोधी स्वभाव दूसरोंकी हानि करनेवाले कार्य करनेमें कुशल।

(२५) दुर्मित्रः = शत्रु।

(२६) दुर्युक्त = जिसके जोड़ने संगति करनेके लिये बुरा।

(२७) दुर्वर्तुः = जिसका वर्तन बुरा है ; ऐसी चाल चलनेवाला।

(२८) दुर्वासाः = जिसके कपड़े मलीन हैं।

(२९) दुर्विदत्रः = जिसका स्वभाव तथा विचार बुरा है।

(३०) दुर्विद्वांसः = जो अपने ज्ञानका बुरा उपयोग करता है।

(३१) दुर्वार्यः = बुरे कार्य करनेसे जो बदनाम हुआ है।

(३२) दुःशासुः = जिसका शासन बुरा है।

(३३) दुर्योष = जो सेवन करनेके लिये अयोग्य है।

(३४) दुःष्वप्न्य = जिससे बुरा स्वप्न आता है। क्योंकि आदि बुरे स्वप्नके कारण होते हैं। तथा कुविचार भी हैं।

यजुर्वेद।

(३५) दुरिष्टिः = यज्ञमें न्यूनता अपूर्णता। अथवा मित्र उत्पन्न करनेवाले होम हवन आदि।

(३६) दुरशन् = बुरा भोजन करना। अधिक अर्थात् अपचन होनेसे अधिक भोजन करना।

(३७) दुश्चरित = जिसका जीवन बुरा है।

(३८) दुष्टर = जैसे पार होनेके लिये कठिन।

---

१ अच्छे हवन सम्यक् हवनसे रोग निवृत्त होते हैं परन्तु विपरीत पदार्थों के हवनसे रोग उत्पन्न होते हैं। शत्रुओंके राज्यमें रोग उत्पन्न करनेके यह हवन मन्त्रकारोंने लिखे हैं।

सामवेद।

(३९) दुरोणस् = बुरा वर्तन।

(४०) दुरोपस् = सुस्त, आलसी, निरुद्योगी।

(४१) दुर्हणायु = क्रोधी।

अथर्व वेद।

(४२) दुर्गन्धीन् = दुर्गन्धयुक्त पदार्थ।

(४३) दुर्गह = आपत्ति-भीति-का स्थान ।

(४४) दुश्चित्त = जिसका चित्त बुरा है। जो बुराईका चिंतन करता है।

(४५) दुर्दाश = विनाश अवनतिकारक बुरी अवस्था।

(४६) दुष्प्रतिग्रहः = बुरे पदार्थका स्वीकार। बुरी रीतिसे किसी पदार्थका स्वीकार।

(४७) दुर्भग = बुरा धन। (भग शब्दका अर्थ पहले दिया है। उन प्रत्येक अर्थके विरोधी भावका आशय यहां समझना)

(४८) दुर्भून = जिसकी उत्पत्ति बुरी है।

(४९) दुर्वाच = बुरा भाषण करना।

(५०) दुर्हार्द = जिसका हृदय बुरा है।

(५१) दुर्हित = जिसके हित करनेके प्रयत्नसे कार्य बिगडता है।

इत्यादि अनेक दुरित हैं, इनमें कई व्यक्तिके दुर्गुण हैं तथा अन्य समाजके दुर्गुणी मनुष्य हैं। चारों वेदोंमें इतने नाम दुरितोंके आये हैं। इससे अधिक १०।१५ नाम हैं परन्तु उनका भाव प्रायः ऊपर दिये हुए नामोंमें आ चुका है। इसलिये उनके नाम यहां दिये नहीं। यहां कोई यह न समझे कि इतने ही दुरित हैं। दुरितोंकी गिनती नहीं हो सकती। किसी समय विपरीत विचार, विपरीत भाषण, अथवा विपरीत आचरण करना दुरित होता है। इस प्रकारके सब दुरितोंको दूर करनेसे उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना सुगम होता है। अस्तु। अब अथर्ववेदके अन्दर बुरे भावोंसे वचनके विषयमें एक सूक्त है वह यहां देखने योग्य है—

अपने विचारोंको एकत्रित करना चाहता हूं । और तुम मुझे बुराईमें ले जाना चाहते हो । स्मरण रखो । मैं अपने धार्मिक विचारों पर ही दृढ रहूंगा । जागते हुए अथवा सोते हुए जो कुछ पाप मेरेसे हुआ हो उस प्रकारका दुष्कृत दुवारा न करनेके लिये मैंने अब दृढ निश्चय किया है । और जहांतक मेरा प्रयत्न चलेगा, वहांतक मैं दुवारा पापका आचरण कभी नहीं करूंगा । हे मन ! तू कितना भी प्रलोभन बता । मैं बुरे विचारोंको दूर ही रखूंगा । " इस प्रकारकी दृढता धारण करके मनके बुरे भावोंको रोकना चाहिए । इस प्रकार वारवार रोकनेसे मनमें फिर कुसंस्कार नहीं उत्पन्न होते । इसी प्रकार और एक मंत्र देखिये—

मनुष्योंके छः शत्रु ।

उलूक यातुं शुशुलूक-यातुं जहि श्व-यातुमुत कोक-यातुम् ।
सुपर्ण यातुमुत गृध्र यातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥
(ऋ० ७।१०४।२२ अथर्व० ८।४।२२)

" (१ सुपर्ण-यातु) गरुडके समान चालचलन अर्थात् घमंड, गर्व, अहंकार, (२ गृध्र-यातुं) गीधके समान बर्ताव अर्थात् लोभ, दूसरेके मांस पर स्वयं पुष्ट होनेकी इच्छा, (३ कोक-यातु) चिडियोंके समान व्यवहार अर्थात् अत्यन्त कामविकार, (४ श्व-यातुं) कुत्तेके समान रहना अर्थात् आपसमें लडना और दूसरोंके सामने पूंछ हिलाना, (५ उलूक-यातु) उल्लूके समान आचार अर्थात् मूर्खताका व्यवहार करना, उल्लू जिस प्रकार प्रकाशसे भागता है उस प्रकार ज्ञानकी रोशनीसे भाग जाना, (६ शुशुलूक-यातु) भेडियेके समान क्रूरता ये छे राक्षस हैं । गर्व, लोभ, काम, मत्सर, मोह और क्रोध ये छे विकार हैं जिनको (दृषदा इव) जैसे पत्थरसे पक्षियोंको मारते हैं उस प्रकार इनको पत्थरके समान मन दृढ करके दूर करो और इनसे सबको बचाओ ॥ "

इस प्रकार वेदका मंगल उपदेश है, जो प्रत्येकको ध्यानमें धरना उचित है। यदि इस आदर्श ज्ञानको ठीकठीक प्रत्येक आत्मातक पहुंचाया जायगा तो यही पृथ्वी स्वर्गधाम बनेगी और यही मृत्युलोक अथवा देवलोक बन जायगा ।।

इस प्रकार दुरितोंको दूर करनेका उपदेश है। दुरितोंका चिंतन सदा नहीं करना चाहिये और न किसीके बुराई की बात सुननी चाहिए, परंतु अपनी परीक्षा करके अपने दुरितोंको दूर कर अपने अंदर उत्तम श्रेष्ठ सद्गुणोंको लानेका यत्न अतिप्रयत्न करना चाहिए। व्यक्तिमें बुरे दुर्गुण होते हैं और समाजमें दुर्बल होते हैं। जैसा व्यक्तिमें दोष और समाजमें दोषी मनुष्य है। दोनोंको दूर रखना चाहिये। इसी प्रकार अन्य दुर्गुणों तथा दुर्वृत्तियोंके विषयमें समझना।

" यद्भद्रं तन्न आसुव। "

" जो कल्याणकारक है उसको अपने पास करो। " दुरितोंकी गिनती ऊपर की है, उनके विरुद्ध भावोंकी कल्पना करनेसे भद्रभावोंकी कल्पना हो सकती है। परन्तु वेदके मन्त्रोंसे ही थोडे सद्गुणोंकी गिनती यहां करता हूं—

ऋग्वेद।

(१) सु+अंगाः (स्वंगाः)=अपना शरीर सुदृढ तथा सुन्दर बनाना अपनी इंद्रियोंको बलवान सुंदर और सुशिक्षित करना।

(२) सु+अंच (स्वञ्च)=एक होकर समुदाय अथवा संघ बना कर उच्च कर्मोंके लिये अच्छे मार्गोंसे चलना।

(३) सु+अध्वरः (स्वध्वरः)=हिंसारहित उच्च कर्म करना।

(४) सु+अभीकं (स्वभीकं)=उत्तम संघ बना कर दुष्टोंके प्रहार के लिये युद्ध करना।

●

(५) सु+अपत्य (स्वपत्य)=उत्तम संतान उत्पन्न करना।
(६) सु+अपस (स्वपसः)=उत्तम व्यापक कर्म करना।
(७) सु+अप्नस् (स्वप्नस्)=उत्तम प्रशस्ततम कर्म करना।
(८) सु+अभिष्टि (स्वभिष्टि)=उत्तम श्रेष्ठ इच्छा धरना।
(९) सु+अभीशु (स्वभीशुः)=उत्तम तेजस्वी होना।
(१०) सु+अरकृत (स्वलकृत)=उत्तम अलंकार, उत्तम वस्त्र आदि से सुशोभित होना।
(११) सु+अरि (स्वरि)=उत्तम स्त्यमय प्रबल इच्छा।
(१२) सु+अर्थ (स्वर्थ)=उत्तम अर्थकी इच्छा। उत्तम पुरुषार्थ।
(१३) सु+अव (स्वव.)= रक्षण, पालन, और संवर्धनकी उत्तम शक्ति धारण करना।
(१४) सु+अश्व (स्वश्व)=घोडे आदि गतिमान उत्तम प्राणी अपने पास रखना।
(१५) सु+अग्र (स्वग्र)=उत्तम खानपान करना।
(१६) सु+अरि+त्र (स्वरित्र)=चारों ओरके शत्रुओंसे सब प्रकार की रक्षा करना।
(१७) सु+आध्य (स्वाध्यः)=धनधान्यसे युक्त होना।
(१८) सु+आ भुव (स्वाभुव)= सबसे अधिक उत्तम शक्तिमान होना।
(१९) सु+आयस (स्वायस) } उत्तम शस्त्रास्त्र तैयार रखना।
(२०) सु+आयुध (स्वायुध) }
(२१) सु+आवेश (स्वावेश) = उत्तम उत्साह,
(२२) सु+आशिष (स्वाशिषः) = उत्तम आशीर्वाद
(२३) सु+इष्ट (स्विष्ट) = उत्तम इच्छा करना।
(२४) सु+उक्त (सूक्त) = उत्तम भाषण करना।
(२५) सु+उप+स्थान (सूपस्थान) = ईश्वरकी उत्तम उपासना करना।

(२६) प्र+उप+आयनं (सूपायनं) = उत्तम शिष्य होकर उत्तम विद्याध्ययन करना। सब कार्य अच्छी प्रकार करना।

(२७) सु+ऊति (सूति) = उत्तम संरक्षण करना।

(२८) सु+ओजः (स्वोजः) = उत्तम बल धारण करना।

(२९) सु+कर्म = उत्तम कर्म करना।

(३०) सु+कीर्तिः = उत्तम यश संपादन करना।

(३१) सु+कृतं = उत्तम उद्योग पुण्यकारक कर्म करना।

(३२) सु+केतुः = उत्तम ज्ञान प्राप्त करना।

(३३) सु+क्षत्रः = उत्तम शौर्य धारण करना।

(३४) सु+क्षयः = उत्तम घरमें निवास करना।

(३५) सु+क्षिति
(३६) सु+क्षेत्र] = उत्तम भूमि पर वास्तव्य करना।

(३७) सु+गो = इंद्रियोंको उत्तम बलवान बनाना।

(३८) सु+गो+पाः = इंद्रियोंका उत्तम रक्षण करना।

(३९) सु+चेतस् = उत्तम चित्त धारण करना।

(४०) सु+जिह्वा = उत्तम जिह्वा धारण करना।

(४१) सु+दंपस् = दांतोंको उत्तम रखना।

(४२) सु+दक्षः = प्रत्येक कर्ममें उत्तम दक्षता रखना।

(४३) सु+दानिवः
(४४) सु+दाः
(४५) सु+दातुं } = उत्तम दान देना।

(४६) सु+दर्शीक+रूपः = अपना स्वरूप दर्शनीय अर्थात् सुन्दर बनाना।

(४७) सु+द्रविणाः = उत्तम धन प्राप्त करना।

(४८) सुधन्वा = उत्तम धनुष्य आदि शस्त्रास्त्र रखना।

(४९) सु+पुरः = घोडोंका उत्तम [illegible] करना।

(५०) सु+नीति = उत्तम न्यायानुकूल कर्तव्य करना।
(५१) सु+पत्नी = उत्तम पत्नी।
(५२) सु+पथ = उत्तम मार्गसे चलना।
(५३) सु+पुत्रः = उत्तम पुत्र उत्पन्न करना।
(५४) सु+बाहु = बाहुओंको उत्तम बलवान बनाना।
(५५) सु+मन = उत्तम मन बनाना।
(५६) सु+मेध = उत्तम बुद्धिको धारण करना।
(५७) सु+यम = उत्तम यमनियमोंका पालन करना।
(५८) सु+वाच = उत्तम भाषण करना।
(५९) सु+वासा = उत्तम कपडे लत्ते धारण करना।
(६०) सु+विप्र = उत्तम ज्ञानी होना।
(६१) सु+वीर = उत्तम शूर होना।
(६२) सु+वीर्य = उत्तम वीर्यको धारण करना।
(६३) सु+वृत्]
(६४) सु+व्रत] = उत्तम बर्ताव करना।
(६५) सु+शरण = दूसरोंको उत्तम आश्रय देना।
(६६) सु+शेव = सेवा करने योग्य बनना।
(६७) सु+श्रुत• = उत्तम ज्ञानसे संपन्न होना।
(६८) सु+सखा = उत्तम मित्र बनना।
(६९) सु+सूद = अन्न पकानेकी विद्या उत्तम जानना।
(७०) सु+हस्त = उत्तम हाथ धारण करना।
(७१) सु+शर्मा = उत्तम नाम धारण करना।
(७२) सु+शिल्प = उत्तम कारीगरी का काम करना।

इस प्रकार सहस्रों सद्गुणोंकी गिनती वेदमंत्रोंमें की है। सबका केवल नाम भी लिखना हो तो निःसंदेह हजारसे ऊपर गिनती पहुंच जायगी।

यहां मनुष्योंके लिये बहुत ही थोड़े मन्त्र दिये हैं। जिनसे पाठक अनुमान कर सकते हैं अथवा वे स्वयं वेदमें देख सकते हैं। ये मन्त्र शुभ हैं जो सदा पाठ करने चाहिए। भद्रके विषयमें यहां एक मंत्र देखने योग्य है—

> भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
> स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
> (ऋ. १।८९।८ ॥ यजु. २५।२१)

" हे विद्वानो! हम सब अपने कानोंद्वारा कल्याणकारक उपदेश ही सुनें। हे सत्कर्मकर्ता! हम सब आंखोंद्वारा कल्याणकारक पदार्थ ही देखें। जबतक हमारी आयु है तबतक सब अवयवोंको स्थिर और दृढ बनाते हुए, तथा परमेश्वरकी स्तुति करते हुए अपने शरीर द्वारा देवोंका हित करते रहेंगे।

इस प्रकार अनेक मंत्र हैं। परंतु उनको यहां लिखनेके लिये स्थान नहीं है। आशा है कि शुभोंको वरें और अशुभोंको त्याग करके, सब लोग मिलकर अपनी उन्नति और अभ्युदय करनेका यत्न पुरुषार्थ करेंगे। अब इस उत्तम मंत्रका इतना ही विचार करनेके पश्चात्, इसको यहीं छोड कर अगला मंत्र देखेंगे—

मन्त्र ४

(४) धनके विभागकी प्रशंसा।

उत्तम स्वास्थ्यके साथ उत्कृष्ट धनोंका उत्तम विभाग जिसने किया है, जो सब मनुष्योंको सच्चा उपदेश करता है और जो सबको सत्कर्मकी प्रेरणा करता है वह प्रशंसाके लिये योग्य है।

पूर्वोक्त तीन मंत्रोंद्वारा मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिके सामान्य नियमोंका वर्णन करनेके पश्चात्, इस चतुर्थ मंत्रमें धनका विभाग नामक विशेष पद्धतिका वर्णन किया जाता है।

'वसु' शब्दका अर्थ 'निवास हेतु' अर्थात् 'जिससे मनुष्योंका उत्तम निवास' होता है। जिस साधनसे मनुष्योंका इस जगत्में रहना सहना ठीक प्रकारसे हो सकता है उसका नाम 'वसु' है। 'वस्–निवासे' इस धातुसे 'वसु' शब्द बनता है। यह यौगिक अर्थ है। परंतु इसका साधारण अर्थ धन है। ये धन निम्न प्रकारके होते हैं।

"त्रि–भक्तार हवामहे"

(१) ब्राह्मणोंका धन विद्या अथवा ज्ञान है।
(२) क्षत्रियोंका धन शौर्य और राज्यधिकार है।
(३) वैश्योंका धन व्यापार और पैसा है।
(४) शूद्रोंका धन कारीगरी और शारीरिक मेहनत है।

ये चारोंके चार धन हैं। इनको इसलिये 'वसु' कहते हैं कि, इनके कारण इन चार वर्णोंकी स्थिति है, तथा इनके विभागसे सब मनुष्योंका पृथ्वी परका निवास उत्तमतासे होता है। श्रम–विभागका पहिला तत्व जो इस चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थामें दिखाई देता है, वह समाजशासनकी दृष्टिसे बडा प्रशंसाके लिये योग्य है।

यह 'वसु' संज्ञक राष्ट्रीय धन आठ प्रकारका बनकर राष्ट्रमें सचार करता है। (१) अध्ययन (२) अध्यापन द्वारा ब्राह्मणोंका ज्ञान सब राष्ट्रमें प्रसारको प्राप्त होता है। (३) स्वयं वीर्यवान् बनना और (४) दूसरोंकी रक्षा करना। इससे क्षत्रियोंका शौर्य सब लोगोंको सुरक्षित रखता है। (५) स्वयं धन प्राप्त करके (६) दानद्वारा अच्छे कार्योंमें उसका अर्पण करनेसे धनका यज्ञ होता है, जिसको भगवद्गीतामें 'द्रव्य–यज्ञ' कहा है। (७) स्वयं कुशल कारीगर बनकर (८) कारीगरीका प्रचार करनेसे सब देश संपन्न होता है। वसु प्राप्त करनेके चार मार्ग और वसुको फैलानेके चार मार्ग मिलकर आठ विभागों द्वारा यह वसु

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार विभागोंमें सब नागरिक जनता विभक्त हुई है। राष्ट्रमें ज्ञानविभागका कार्य ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंके पास रखा गया, शौर्यविभाग का कार्य क्षत्रियों अर्थात् वीरोंके पास आ गया; व्यापारविभाग का कार्य वैश्यों अर्थात् बनियोंके पास हो गया और कलाविभाग का सब कार्य शूद्रों अर्थात् कारीगरोंके पास आ गया। इस चतुर्थ विभागमें मजदूर पेशाके लोग भी संमिलित हैं।

उक्त चार विभागोंके अंदर भी असंख्य छोटे छोटे विभाग अपने अपने कार्य करनेके लिये पूर्ण स्वतंत्र, परंतु राष्ट्रीय कार्यके लिये सब एकत्र बंधे हुए बनाये गये हैं। जिनका वर्णन इस अध्यायकी समाप्तितक होनेवाला है। जिस 'वसु-विभाग' अथवा 'अधिकार-विभाग' किंवा 'शक्ति विभाग' की प्रशंसा इस मंत्रमें की है, और 'शक्तिके केंद्रीकरण' की कण्ठरवसे निन्दा की है, उसका विचार अगले मंत्रसे करेंगे।

मंत्रके दो शब्द शेष रहे हैं। 'सविता' शब्द 'प्रेरणा अथवा उत्साह देनेका भाव' बताता है। 'षु प्रसवैश्वर्ययो' इस धातुसे यह शब्द बना है। ऐश्वर्यकी ओर जानेकी प्रेरणा अथवा ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये उत्साह देना चाहिये। राष्ट्रमें नेता लोगोंका हमेशा ऐसा उपदेशका कार्य होना चाहिए कि जिससे राष्ट्रकी जनताका उत्साह नष्ट न हो सके। लोगोंका उत्साह कायम रखना ही राष्ट्रके धुरणोंका कार्य है।

'नृ-चक्षस' शब्दका अर्थ भी बडा उच्च है। 'चक्षस्' का अर्थ— शिक्षक, उपदेशकर्ता, आध्यात्मिक ज्ञानका प्रवचन करनेवाला। अर्थात् 'नृ-चक्षस्' का अर्थ 'लोगोंको उपदेश करनेवाला' है। 'नृ' शब्दसे सब जनता का बोध है। सबको शिक्षण देना चाहिये, किसीको भी शिक्षासे विमुख नहीं रखना। 'नृ- चक्षण' का अर्थ 'मनुष्यमात्रकी शिक्षा' ऐसा है। परमात्मा सबको एक जैसा उपदेश देता है, इसलिये पूर्णतया उसको 'नृ-चक्षस्' कहते हैं, तथा जो शासनकर्ता सबको 'आवश्यक

शिक्षा ' देगा उसकी भी पदवी ' द-कलम् ही होगी। क्योंकि जो कार्य परमेश्वर अपने स्वभावसे कर रहा है वही हम सबको ज्ञानपूर्वक करके उसका साथ करना चाहिए। तभी मनुष्य मुक्ति अर्थात् स्वतंत्रताके भागी होंगे।

अब चारों वर्णोंकी समानताके विषयमें वेदका उपदेश देखिए, जिससे पता लग जायगा कि उन वर्णोंमें साधारणतया न्यूनाधिकता नहीं रखी है—

चारों वर्णोंका तेज।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥

(यजु १८।४८)

" हमारे ब्राह्मणोंमें तेज रखो हमारे क्षत्रियोंमें तेज रखो हमारे वैश्यों और शूद्रोंमें तेज रखो तथा मेरे अंदर तेजसे तेजस्विता रखो। तथा—

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्॥ आ राष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो
जायताम्॥ निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु॥ फल
वत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

(यजु २२।२२)

" हे (ब्रह्मन्) परमेश्वर! (राष्ट्रे) हमारे राज्यमें ब्राह्मण ज्ञानतेजसे युक्त हों क्षत्रिय लोग शूर महारथी और शस्त्र चलानेमें युक्त हों तथा हमारे राज्यमें दूध देनेवाली गौवें बोझ ढोने वाले बैल घोड़े विद्वान् स्त्रियां हों तथा इस यजमानका पुत्र शूर विजयी सभामें सभ्यतावाला होवे। योग्य समयपर पर्जन्य बरसता रहे। वनस्पतियां फलोंसे भरपूर होवें। तथा हम सबका योगक्षेम अच्छा चलता रहे। "

इमा या पञ्च प्रदिशो मानवी पञ्च कृष्टय ।
वृष्टे शाप नदीरिवेह स्फातिं समावहन् ॥
(अथर्व० ३।२४।३)

"जो इन पाच दिशाओंमे पांच प्रकारके (कृष्टय) उद्यमशील (मानवी) मनुष्य हैं, वे सब, जिस प्रकार वृष्टिसे नदी बढती है उसी प्रकार, उन्नतिको प्राप्त हों।" विद्वान्, शूर, व्यापारी, कारीगर और अज्ञानी ऐसे पांच प्रकारके लोग होते है वे सब उन्नत हों। कोई भी अवनत न रहे।

अस्तु इस प्रकार सबकी उन्नति होनेकी कल्पना वेदमें है। राष्ट्रमें जितने लोग होंगे, उनमें एकमत चाहिये इस विषयके लिये निम्न मंत्र देखिये—

असंबाध मध्यतो मानवाना यस्या उद्वत प्रवत समं बहु ॥ नानावीर्या ओपधीर्या बिभर्ति पृथिवी न' प्रथता राध्यता न ॥
(अथर्व० १२।१।२)

"(यस्या) जिस हमारी भूमिके (मानवानां मध्यत) मनुष्योंके बीचमें (अ-संबाध) अ-द्वेष अर्थात् झगडा, आपसकी लडाई नहीं है। और जिस हमारे देशके (उद्वत) आध्यामिक उन्नति करनेवाले तथा (प्रवत) ऐहिक उन्नति करनेवाले सब लोगोंमें (बहु सम) बहुत समता अर्थात् समानता है, और जो हमारी भूमि नाना प्रकारके गुणधर्मवाली औषधियोंको धारण करती है वह हमारी भूमि (न प्रथता) हम सबकी प्रसिद्धि (राध्यतां) सिद्ध करे।"

राष्ट्रके सब लोगोंमें 'अ–संबाध' अर्थात् अद्वेष चाहिये। किसी प्रकारका झगडा नहीं होना चाहिये। जातियोंमें परस्पर विषमता होनेके कारण झगडे उत्पन्न होते हैं। जन्मसे एक उच्च और दूसरा नीच है, इस प्रकारका विषमताका क्षुद्र भाव जहां होगा वहां अवश्य झगडा रहेगा। सब लोगोंके अधिकार समान चाहिए तथा उन्नत होनेके लिये सबको एक

वैसा सुभीता होना चाहिए। अर्थात् समाजके अंदर वसु धर्म अर्थात् शुभ वस्तुओंकी समता चाहिए। समतासे सब झगडे मिटजाते हैं। विषमतासे सब झगडोंकी उत्पत्ति है।

अस्तु। इस प्रकार अधिकार विभागका महत्व तथा समभावकी योग्यता इस मंत्रसे जाननेके पश्चात् "वसु-विभाग" का विचार अगले मंत्रमें करेंगे—

मंत्र ५ से १२ तक

"वसु-विभाग।"

(१) ब्राह्मण-धर्म-विभाग।

ज्ञानका प्रचार.

मंत्र ५ से मंत्र १२ तक अर्थात् अध्याय समाप्तितक "वसु विभाग" का वर्णन किया जाता है। मंत्रोंमें जो इसका क्रम रखा है वह किसी अन्य तत्वपर होगा उसके विषयमें स्वयं ही विचार करना चाहिए। यहां वे ही विभाग चार वर्णोंमें बांट कर बताये जाते हैं जिससे उन विभागोंकी परस्पर संगति निश्चित रीतिसे समझी जायगी। सबसे प्रथम ब्राह्मणवर्ण का विचार करेंगे क्योंकि "ब्राह्मणो अस्य मुखम्" ब्राह्मण इसका मुख है ऐसा ऋ० १०।९०।१२ में कहा है। इस वसु विभागको प्रारंभ करनेसे पूर्व सामान्यरूपसे इस क्रियाके अर्थका विचार करना चाहिए। क्योंकि यद्यपि यह क्रिया मंत्र १२ में आती है तथापि इसका संबंध पांचवें मंत्रसे अंततक प्रत्येक वाक्यके साथ होता है।

आ-लभ् = स्पर्श करना, प्राप्त करना, पाना, पहुंचाना, दूर करना, सिद्ध करना, आश्रय करना, उपभोग करना, सत्कार करना, काम कराना

पास करना, आरंभ करना; अपने ऊपर लेना; स्वीकार करना, पहुचना; प्रसन्न करना, सुलह करना, अर्पण करना, हनन करना, पास होना।

आ-लम्भ् = आश्रय करना, विश्राम करना, सहायता करना, पालन करना, अपना करना, उपयोग करना, पास होना, प्राप्त करना, अपने आपको समर्पित करना, अवलबन करना।

लभ् = (डु-लभ-ष्) = प्राप्तौ। (पाणिनीये धातुपाठे भ्वादि)

लम्ब् = (लबि) = शब्देऽवस्रसने च।(„ „ „)

धातुके उक्त अर्थ देखनेसे उनमें केवल चार भाव प्रतीत होते हैं। (१) प्राप्ति, (२) आश्रय, (३) सहाय्य, और (४) हनन। ये चार अर्थ ' आलभते ' क्रियामें मुख्य हैं। इन अर्थोंको मनमें धारण करके मन्त्र ५ के प्रथम अंशका विचार करेंगे—

(१) " ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभते " [१]

" (ब्रह्मणे) ज्ञानके लिये (ब्राह्मण) ज्ञानीको (आलभते) प्राप्त करता है। " ज्ञानके लिये ब्राह्मणके पास पहुंचता है, ब्राह्मणका आश्रय करता है, ब्राह्मणसे उपयोग लेता है, ब्राह्मणसे व्यवहार करता है, ब्राह्मणसे लाभ उठाता है, ब्राह्मणका स्वीकार करता है, अथवा ब्राह्मणको अपने ऊपर मानता है अर्थात् ब्राह्मणको गुरु मानकर उसका शिष्य बनता है, ब्राह्मणके पास पहुचता है, ब्राह्मणको प्रसन्न करता है, ब्राह्मणके साथ सुलह अर्थात् मित्रता करता है, ज्ञानप्रसारके लिये ब्राह्मणको अर्पण करता है, ब्राह्मणको सहायता देता है।

' हनन ' का अर्थ यहा नहीं लगता, क्योंकि ' ज्ञानप्रसारके लिये ब्राह्मणका—अर्थात् ज्ञानीका—हनन करता है। ' यह अर्थ स्वय अपने मंतव्य-का ही खडन करनेवाला होता है। ज्ञानी जीता रहेगा तबतक ही ज्ञानका प्रसार होना सभवनीय है, ज्ञानी पुरुषका हनन करनेसे ज्ञानके प्रसा-रका कार्य बद होगा। इसलिये ऐसे स्थानोंपर ' आलभ् ' का 'हनन' अर्थ नहीं लिया जा सकता। किन किन स्थानोंपर लेना उचित होगा, उसका जहा वैसा प्रसग आवेगा वहां विचार किया जायगा।

अब 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ देखना चाहिए। 'ब्रह्म' शब्द 'बृह्, बृंह्' इन दो धातुओंसे बनता है। जिनके अर्थ निम्न प्रकार हैं—

बृह् = बढना अभ्युदयको प्राप्त होना, वृद्धि करना फैलना व्यापक बडा होना बलवान् होना उन्नत करना पुष्टि करना।

बृंह् = बढना पुष्ट करना बोलना उपदेश करना तेजस्वी होना प्रकाशना।

बृह् = वृद्धौ। (पाणिनीय धातुपाठे भ्वादि,) = बढना।

बृह् = वृद्धौ शब्दे च। (   ) = बढना बोलना।

बृह् = उद्यमे। (,, तुदादि) = उद्योग करना उच्च अर्थोंमें मनमें धारण करके, ब्राह्मण का अर्थ देखना चाहिए। ब्राह्मण शब्दका यौगिक अर्थ— बडा महान्, अभ्युदय-संपन्न व्यापक फैला हुआ बलवान्, उन्नत पुष्ट उपदेशकर्ता तेजस्वी उद्यमशील इत्यादि है। अर्थात् 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत।' का अर्थ— 'बडा होनेके लिये महत्त्व प्राप्त करनेके लिये अभ्युदय प्राप्तिके लिये बलवान बननेके लिये उन्नत होनेके लिये, बल फैलानेके लिये पुष्ट होनेके लिये उपदेश करने और सुननेके लिये तेजस्वी होनेके लिये उद्यमशील-पुरुषार्थी-बननेके लिये ज्ञानी मनुष्यको प्राप्त करो ज्ञानी मनुष्यका शिष्य बनो। अथवा उक्त कार्य कर लेनेके लिये ज्ञानीको नियुक्त करो ज्ञानीको सहायता दो इ० । हो सकता है। इस विषयमें पाठकोंको अधिक विचार करके बोध लेना चाहिए।

तात्पर्य अज्ञानी लोग ज्ञानी मनुष्यके पास जाके बोध और ज्ञान प्राप्त करें; तथा धनिक और राजा, राजपुरुष आदि लोग ज्ञानियोंको सहायता करके उनसे ज्ञान प्रचार करनेका यत्न करावें। इस प्रकार दोनों प्रकारके लोगोंद्वारा ज्ञान प्रचारके लिये सहायता होनी चाहिए—

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

(तैत्ति आर० ८।१।१)

"(नौ) हम दोनों द्वारा (अधीत) पढ़ा हुआ ज्ञान (तेजस्वि) तेजस्वी रहे। और हम सब आपसमें विद्वेष अर्थात् विरोधी झगड़ा न करें।' उच्च, नीच श्रीमान् गरीब, धनिक, निर्धन, अधिकारी अधिकृत, राजपुरुष प्रजापुरुष आदि द्विविध जनोंको अर्थात् सब लोगोंको ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए। मंत्र ४ के 'नृ-चक्षस्' शब्दसे 'मनुष्यमात्रोंको ज्ञान देना' यह उपदेश ध्वनित हुआ था। वही भाव यहां अब बिलकुल स्पष्ट हुआ है।

'मनुष्यः ब्रह्मणे ब्राह्मणं आलभेत।' प्रत्येक मनुष्य ज्ञानप्राप्तिके लिये ब्राह्मणके पास पहुंच जावे। अर्थात् (१) ज्ञान लेनेका हरएक मनन शील मनुष्यको जन्मसिद्ध अधिकार है, (२) तथा जो मनुष्य ज्ञानीके पास शिष्य बनकर आ जायगा, उसको निष्कपट भावसे ब्राह्मणने पढाना ही चाहिए। कोई जातिनिर्देश यहां नहीं। तथा राजाको उचित है कि ब्राह्मणको अथात् ज्ञानीको नियुक्त करके, किसी प्रकारकी रुकावट न रखता हुआ, सबको ज्ञानसे युक्त करे। जिनके पास मन और बुद्धि है उनको ज्ञान ग्रहण करनेका अधिकार है। वेदमें किसी स्थानपर देखनेमें नहीं आता कि किसी मनुष्यको भी जाति, रंग, स्थान आदि क्षुद्र कारणोंके कारण, ज्ञानसे वंचित रखनेकी अंशमात्र भी ध्वनि निकलती हो। अस्तु। इस प्रकार इस मंत्रका भाव स्पष्ट हुआ। अब ब्राह्मणोंके गुणधर्म देखेंगे—

ब्राह्मणके कर्तव्य।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा। अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ (अथर्व ५।१८।९)

'(तीक्ष्ण इषवः) जिनके बाण तीखे हैं, और जो (हेति मंत) हथियार धारण करते हैं ऐसे (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (यां शरव्यां) जिन शस्त्रोंको (अस्यन्ति) फेंकते हैं, (सा न मृषा) वे शस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्य-जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १ ॥
(ऋ ७।१०३।१॥ अथर्व. ४।१५।१३)

"(सं-वत्सरं शशयाना) वर्षकी अवधीतक समाधिकी शांत वृत्ति (Tranquility) में रहते हुए (व्रत चारिणः) नियमोंके अनुसार आचरण करनेवाले तथा (मण्डूका = मण्डति भूषयति विभाजयति वा । भूषयिता विभाजयिता वा मण्डूक) मंडन और खंडन करनेवाले (ब्राह्मणा) विद्वान् लोग (पर्-जन्य -जिन्विता वाचं) पूर्तिकारक प्रेरणासे वाणीको (प्र अवादिषुः) विशेष प्रकार बोलते हैं। "

' मंडूक, मंडन, मंडप, मंडल ' इत्यादि शब्द ' मंड् ' धातुसे बने हैं जिसका अर्थ 'भूषित करना, शोभायुक्त बनाना, मंडन करना' ऐसा होता है। 'मंड्' धातुका दूसरा अर्थ 'विभाजन' अर्थात् ' भेदन, छेदन, खंडन ' करना है। अर्थात् 'सत्यका मंडन और असत्यका खंडन' करनेका भाव 'मंडूक' में है। जो 'धर्मका मंडन और अधर्मका खंडन करता है' उसकी पदवी मंडूक होती है। लौकिक संस्कृतमें 'मेंडक' ऐसा इसका अर्थ है, उसीको मनमें धरकर और उक्त यौगिक मूल धात्वर्थको छोडकर डा मूर साहब आदि यूरोपीयनोंने अपनी पुस्तकोंमें यह मंत्र ' ब्राह्मणोंकी निंदा करनेके लिये बनाया गया है' ऐसा लिखा है। यह उनके अज्ञानका द्योतक है।

'पर्जन्य' शब्दका अर्थ ' पूर्तिजन्य, पूर्ति-जनक, पूर्णत्वका उत्पादक ' है। पूर्णता करनेका गुण विद्वानोंकी प्रभावयुक्त वाणीमें ही हुआ करता है। ' पर्-जन्य जिन्वितां वाच ' का अर्थ पूर्णता उत्पन्न करनेकी इच्छासे कही हुई वाणी अथवा वक्तृता ' ऐसा है। यही ब्राह्मणोंका काम है कि वे अपनी वक्तृतासे राष्ट्रमें ज्ञानके विषयमें पूर्णता उत्पन्न करें और किसी स्थानपर न्यूनता न रखें। उक्त सूक्तका और एक मंत्र देखिए—

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परि
वत्सरीणम्। अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आवि
र्भवन्ति गुह्या न केचित्॥

(ऋ. ७।१०३।८)

"(सोमिनः) सोम्य शांत (अ-ध्वर्यवः) अहिंसायुक्त कर्म करने
वाले (सिष्विदाना घर्मिणः) तपनेवाले तपस्वी (ब्राह्मणासः) विद्वान्
लोग (परि-वत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः) एक वर्षकी अवधितक ज्ञानका
उपदेश करनेवाले (गुह्या न केचित्) किसी प्रकार गुप्तता न रखते हुए
(आविर्भवन्ति) बाहर आते हैं और (वाचं अक्रत) वक्तृता करते हैं।"
अर्थात् एक वर्षपर्यंत सतत परोपकार्य कर्म करनेवाले विद्वान् शांत अहिंसा
शील तपस्वी ब्राह्मण बाहर आकर उपदेश करते हैं एकान्तको छोडकर
अंदर एक और बाहर एक इस प्रकार न करते हुए, ठीक सत्यका मंडन
और असत्यका खंडन करते हैं। यथा—

ब्राह्मणमद्य विन्देयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं स
सु-धातु-दक्षिणम्। अस्मद् राता देवत्रा गच्छत
प्रदातारमाविशत॥ (यजु ७।४६)

"(अद्य ब्राह्मणं विन्देयं) हम सब आज विद्वानको प्राप्त करें जो
विद्वान् (१) (पितृमंतं) पितृमान् अर्थात् उत्तम पिताके उत्पन्न हुआ हो
(२) (पैतृमत्यं) जिसका पितामह अच्छा हो (३) (आर्षेयं) ऋषि
योंका सब ज्ञान जिसने पढा हो तथा (४) (ऋषिं) जो स्वयं दिव्य
दृष्टिसे युक्त हो और (५) (सु धातु-दक्षिणं) उत्तम वीर्य धारण करनेमें
दक्ष हो अर्थात् इंद्रियनिग्रही ऊर्ध्वरेता हो। (अस्मद् राता) हमारेसे
दक्षिणा प्राप्त होकर (देव-त्रा) विद्वानोंमें जो (प्र दातारं) विशेष
दानशील हों उनके पास (गच्छत) जाओ और उनमें (आ-विशत)
प्रविष्ट होकर रहो।" इस मंत्रमें किस प्रकारका ब्राह्मण गुरु करना चाहिए,

इसका उत्तम वर्णन है; इस प्रकार गुरु होंगे तो सबका सुधार हो सकता है। तथा-

> ब्राह्मणानभ्यावर्ते। ते मे द्रविण यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ (अथर्व १०।५।४१)

" ब्राह्मणोंको मैं प्राप्त करता हूं। वे ब्राह्मण मुझे ज्ञानतेजरूपी धन देवें" इसप्रकार ब्राह्मणोके गुणवर्णन करनेवाले बहुत मंत्र हैं, परंतु यहां नमूनेके लिये थोडेसे रखे हैं। इन मंत्रोंसे ज्ञात हो सकता है, कि ब्राह्मणका ज्ञान प्रचारका कार्य राष्ट्रमें कितना है, और जनताकी उन्नतिके साथ सच्चे उच्च ब्राह्मणका कितना संबंध है। अब हम अगला उपदेश देखेंगे-

(२) "तपसे कौलालम्।" [२१]

इस वाक्यका अर्थ ठीक ध्यानमें आनेके लिये 'तपस्' और 'कौलाल' इन दोनों शब्दोंके अर्थ विस्तारपूर्वक देखने चाहिए

तपस्‌का अर्थ = उष्णता, गर्मी, स्वकीय इच्छासे कष्ट सहना, अच्छा कार्य करनेके समय होनेवाले कष्ट आनंदसे सहना, ध्यान, चित्तकी एकाग्रता, धर्म-नीति-विषयक सद्गुण, सद्गुण, विशेष कर्तव्य, जैसा ब्राह्मणोंके तत्त्वज्ञानका विचार, क्षत्रियोंका राज्य संरक्षण, वैश्योंका कृषि व्यापार और पशुसंरक्षण, तथा शूद्रोंका कारीगरी और इनाकी नौकरी, ये चार वर्णोंके चार विशेष कर्तव्य तप कहलाते हैं। तथा-

> ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥ (तै आ १०।८)

"(ऋत) अटल नियमोंका पालन (सत्य) सत्यका पालन (श्रुत) विद्याध्ययन, (शान्त) चित्तकी शांति, (दम) मनका दमन (शम) इंद्रियोंका शमन, (दान) परोपकार, (यज्ञ) सत्कार, संगति, [illegible]

कर्म (ऋत) वास्तविक रखना (श्रुत) श्रवण करना (शम) शान्ति प्राप्त करना, तथा गति प्राप्त करना (ब्रह्म) परमेश्वरकी उपासना करना ये सब तप हैं। तथा-

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥ तै. आ. ७।९

(स्वाध्याय) अध्ययन और (प्रवचन) उपदेश ये तप हैं। ”

तथा-

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसो-
दतिष्ठत् ॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे
अमृतेन साकम् ॥ (अथर्व. ११।५।५)

(ब्रह्मणः ब्रह्मचारी) ज्ञानका ब्रह्मचारी अर्थात् ज्ञानार्जनमें अथवा प्रथम अतीव कर्मवाला विद्यार्थी (घर्मं वसानः) श्रम करता हुआ जब (पूर्वः जातः) पूर्ण बन जाता है तब वह (तपसा उदतिष्ठत्) तपके कारण उन्नत होता है। इसीलिये श्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञान-ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा (अमृतेन साकं) अमरपनके साथ (सर्वे देवाः) सब दिव्य गुण तथा दिव्य पदार्थ इसीके साथ रहते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (अथर्व ११।५।१७)

(राजा) राष्ट्रका अधिकारी (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन और वीर्य संरक्षणरूप तपके द्वारा राष्ट्रका संरक्षण करता है। तथा (आचार्य) अध्यापक ब्रह्मचर्यके साथ ही रहनेवाले विद्यार्थीकी इच्छा करता है। अर्थात् राष्ट्रके सब अधिकारी क्षत्रिय तथा सब अध्यापक ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका पालन करनेवाले हों तथा ये दोनों राष्ट्रके सब लड़कोंसे ब्रह्मचर्य पालन और वीर्य रक्षण करावें। यह सब तप है। इनके विचारसे 'तप' का निम्न अर्थ प्रतीत होता है - (१) धन वार्में नर्मी अर्थात् उष्णता रखना (२) अपने कर्म करनेके समय होनेवाले

क्रियात है। 'अप्-सरस' = अप् अर्थात् कर्मोंके लिये जो सचार करते हैं उन कर्मचारियोंका यह नाम है।

' किसानों और कर्मचारियोंके लिये भ्रमण करनेवाले उपदेशक रखो।

गधर्व तथा अप्सरस्के अन्य अर्थ यहां अभीष्ट नहीं ऐसा प्रतीत होता है। गधर्व-नायक, गानेवाला, वक्ता। अप्सर -नर्तकी, नाचनेवाली॥ इस विषयमें पाठकोंको विशेष सोचना चाहिए।

व्रात्यके विषयमें अथर्ववेदमें यहा वर्णन देखने योग्य है।

> तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्
> ॥ १॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वाऽवात्सी-
> र्व्रात्योदक व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽ-
> स्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्तु व्रात्य यथा ते
> निकामस्तथाऽस्त्विति॥ २॥ (अथर्व १५।११)

" इस प्रकारका भ्रमण करनेवाला (व्रात्यः) उपदेशक जब अपने घर आ जायगा, तब स्वय उसके सन्मुख जाकर पूछना चाहिए, कि हे (व्रात्य) उपदेशक! आप इतने दिन कहा थे? आपके लिये यह उदक है। आपको हम आनदमें रखेंगे। जो आपके लिये प्रिय होगा वही किया जायगा। जो आपको अनुकूल होगा वही होगा। जो आपकी इच्छा होगी वैसा ही हम आचरण करेंगे।"

इस प्रकार उपदेशक आने पर उसका स्वागत करना चाहिए। इस विषयमें अथर्ववेद का० १५ देखने योग्य है। उपदेशकोंका योग्य सन्मान करना लोकोंका धर्म है।

(७) ' सर्प-देव-जनेभ्यो अ-प्रतिपदम्। ' [३६]

(सर्पा-) जगली, अज्ञानी मनुष्य, (देवा) विजयकी इच्छा करनेवाले मनुष्य, तथा (जना) इतर साधारण लोक इन तीन प्रकारके

क्योंकि जिसे (न मं पद् । न विद्यते प्रतिपद् अधिकं ज्ञानं यस्मात्) जिससे अधिक ज्ञानी कोई नहीं अर्थात् जिसका यथायोग्य ज्ञान होता है ऐसे पुरुषको मनुष्य कहो।

सर्पा:- (सर्पन्ति इति सर्पाः) जो केवल चलते फिरते हैं परंतु जिनको मनुष्यत्वके विषयका ज्ञान प्राप्त नहीं।

जना:- (जायन्ते इति जनाः) जो केवल प्रजा उत्पन्न कर सकता है परंतु मनुष्यताका उत्तम ज्ञान जिसके पास नहीं।

देवः इस शब्दके अनेक अर्थ हैं-

(१) दीव्यति क्रीडति इति देवः।— जो मर्दोंमें खेल खेलते हैं।

(२) दीव्यति विजिगीषति इति देव।— विजयकी इच्छा और विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले देव होते हैं।

(३) दीव्यति व्यवहरति इति देव।— जो व्यापारव्यवहार करता है वह देव कहलाता है।

(४) दीव्यति द्योतते इति देव।— जो चमकता है वह देव होता है।

( ) दीव्यति स्तौति इति देव।— जो ईश्वरकी स्तुति करता है; ईश्वरका उपासक देव कहलाता है।

(६) दीव्यति मोदते इति देव।— जो सदा आनंद वृत्तिमें रहता है।

(७) दीव्यति माद्यति इति देव।— जो सदा खुश रहता है।

(८) दीव्यति स्वपिति इति देव। जिसको गाढ निद्रा आती है।

(९) दीव्यति कामयते इति देव।— जो प्रीति करता है।

(१) दीव्यति गच्छति इति देवः।— जो हलचल करता है।

(११) देवो दानात्।— जो दान देता है।

इतने देवोंके लक्षण होते हैं। इस प्रकारके सब लोगोंको शिक्षण देनेके लिए ऐसे योग्य पुरुषोंको रखना चाहिए कि जो जहां उत्तम प्रकारसे योग्य हो।

न्याय-विभाग ।

"(८) आ-शिक्षायै प्राश्निनम् ।" [५८]

(आशिक्षायै) शिक्षणकी इच्छा-करनेवालेके लिये (प्राश्नि) प्रश्न पूछनेवालेको प्रयुक्त करो ।'

"(९) उप-शिक्षायै अभि-प्राश्निनम् ।" [५९]

'(उप-शिक्षायै) अभ्यासके लिये (अभि प्राश्नि) जिज्ञासुको नियुक्त करो ।'

"(१०) मर्यादायै प्रश्न-विवाकम् ।" [६०]

'मर्यादा—मर्यैः मनुष्यैः आदीयते या सा मर्याऽऽदा ।' जो सब मननशील मनुष्योंने अपनी स्वसमतिसे निश्चित की होती है, उस नियम-व्यवस्थाको मर्यादा कहते हैं ।

(मर्यादायै) न्याय व्यवस्थाके लिये (प्रश्न-विवाकं) पंचको नियुक्त करो ।'

'प्राश्निन्' का अर्थ- वादी, मुद्दई, फिरयादी ।

'अभिप्राश्निन्' का अर्थ- प्रतिवादी मुद्दाअलह ।

'प्रश्नविवाक' का अर्थ- पंच, न्यायाधीश ।

ये भी इनके अर्थ हैं । इन अर्थोंके अनुकूल ' आशिक्षा, उपशिक्षा ' के अर्थ भी बदलने उचित होंगे । परतु इन अर्थोंका आजकलके कोशोंसे कोई पता नहीं चलता । इसलिये इस बातको विद्वान् स्वाध्यायशील पुरुषोंको सोचना चाहिए ।

"(११) धर्माय सभा-चरम् ।" [१३]

'(धर्माय) धर्मशास्त्रके लिये (सभा-चर) धर्मसभाके सभासदको प्राप्त करो ॥'

'धर्म' शब्दका अर्थ 'स्मृति शास्त्र' अर्थात् राष्ट्रका कानून है ।

राष्ट्रीय महासभाके सभासदोंसे राष्ट्रके कानूनके विषयमें अर्थात् राज-नियमोंके विषयमें पूछना चाहिए।

नि-यम विभाग।

“(१२) यमाय अ-सूम्।” [१०१]

(यमाय) नियमोंके लिये (अ-सूं) नियमपालनकर्ताओंको प्राप्त करो।'

“(१३) यमाय यम-सूम्।” [१०३]

(यमाय) उपनियमोंके लिये (यम-सूं) नियम उपनियम बनाने-वालेके पास जाओ।

यम-सू इस समासदोंका नाम होता है कि जो नियम उपनियम बनानेवाली सभाके सभासद होते हैं। तथा 'अ-सू' इस समासदोंका नाम होता है कि, जो स्वयं नियम उपनियम नहीं बनाते परंतु नियमपालनसे सब नियम उपनियमोंका लोकहितकी दृष्टिसे परीक्षण करते हैं।

विवाद।

“(१४) अतिक्रुष्टाय मा-गधम्।” [१०]

मा-गध-माने अन्यदि गृह्णाति यस्य गृह्णाति। निरु. ३।३।४।१० जो योग्य प्रमाणोंका ग्रहण करता है, उसको मा-गध कहते हैं।

(अति-क्रुष्टाय) महान् कलहके लिये (मा-गधं) योग्य प्रमाण देनेवालेको नियुक्त करो।

“(१५) घोषाय भषम्।” [१४४]

(घोषाय) बडे आवाजकी वक्तृताके लिये (भषं) बडी आवाजसे बोलनेवालेको रखो।

“(१६) अन्ताय बहुवादिनम्।” [१४५]

(अन्ताय) समाप्तिके लिये (बहु-वादिनं) बहुत वक्तृत्व करनेवाले

को नियुक्त करो । ' वाद विवाद समाप्त करना हो, तो उत्तम प्रभावशाली वक्ताको रखिए, जो बहुत और अच्छा बोल कर स्वपक्षका अच्छी प्रकार मंडन कर सकता हो ।

" (१७) अनन्ताय मूकम् । " [१४५]

' जो वादविवाद (अनन्ताय) अन्त न होनेवाला हो, वहां (मूकं) कम बोलनेवालेको रखो । ' कई वादविवाद, शास्त्रार्थ, बहस मुबाहिसे ऐसे हुआ करते हैं कि, जो समाप्त नहीं हो सकते, विपक्षी लोग वितंडवाद करते हुए बोलते ही जाते हैं, और किसी प्रकार भी नियमानुकूल नहीं चलते । ऐसी अवस्थामें बहुत ही थोडा बोलनेवाला जो हो उसको ही रखना उचित है, क्योंकि बोलने और न बोलनेका परिणाम विपक्षी पर कुछ भी नहीं होता है । जो वादविवाद सत्यका ग्रहण और असत्यको छोडनेके लिये नहीं होता, उसमें ज्ञानी मनुष्यको अधिक बोलना नहीं चाहिये ।

" (१८) आर्त्यै जन-वादिनम् । " [१३०]

' (आर्त्यै) कठिन प्रसंगके लिये, विनाशकी अवस्थाके समय (जन-वादिन) लोकोंके हितकी बात जो ठीक प्रकार कह सकता है उसको रखो । '

योग-विभाग ।

" (१९) योगाय योक्तारम् । " [९३]

' (योगाय) योगाभ्यासके लिये (योक्तार) योग करनेवालेको रखो । '

योगके आठ अंग हैं । (१) यम, (२) नियम, (३) आसन और (४) प्राणायाम, ये चार अंग शारीरिक स्वास्थ्यके लिये हैं । अहिंसा, सत्य, अ-स्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच यम हैं । शुद्धि, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति ये पांच नियम हैं । व्यायामके अनंत आसन हैं जिनके करनेसे शरीर निरोगी और सुडौल बनता है । प्राणायामके करनेसे रक्ताग्नि

समाधिमें रहनेवालोंका संरक्षण करना अन्य लोगोंका कर्तव्य है। उस अवस्थामें वे अपने आपका संरक्षण नहीं कर सकते। इसलिये दूसरों-पर उनके संरक्षणकी जिम्मेवारी है।

"(२१) वपुषे मानस्कृतम्।" [९७]

'(वपुषे) शरीरके लिये (मानस्कृत) प्रमाणके अनुसार कर्म कर-नेवालेको प्राप्त करो।' शरीरको आरोग्य सपन्न और सुडौल बनानेके लिये ऐसे मनुष्यको प्रयुक्त करो कि जो सब व्यवहार योग्य प्रमाणके अनुकूल करता है।

"(२२) शीलाय आञ्जनी-कारीम्।" [९८]

'(शीलाय) सुस्वभावके लिये (आञ्जनी-कारीं) दृष्टिका शोधन करनेवालेको रखो।' अजनसे दृष्टिकी शुद्धि होती है। शुद्ध दृष्टि होनेसे उत्तम स्वभाव अर्थात् शील हो सकता है। शुद्ध दृष्टिसे प्रतिदिन अपने मन और इंद्रियोंके व्यवहारोंकी जांच करनेसे शील सुधरता है।

"(२३) मेधायै वासः-पल्पूलीम्।" [७९]

'(मेधायै) बुद्धि और शक्तिके लिये (वास -पल्पूलीं) कपडे स्वच्छ धोनेकी व्यवस्थाको रखो।' स्वच्छ धोये हुए कपडोंको पहननेसे ही शारीरिक शक्ति और बौद्धिक शक्ति ठीक रहती है। मलीन कपडे पहन-नेसे शरीर भी रोगी हो सकता है और बुद्धि भी बिगड जाती है। जो धारणावाली बुद्धि होती है उसको मेधा कहते हैं।

स्नान।

"(२४) व्रध्नस्य विष्टपाय अभिषेक्तारम्।" [७३]

'(व्रध्नस्य) सूर्य, सूर्यके किरण, सूर्यकी उष्णताके, (विष्टपाय) स्थानकेलिये, (अभिषेक्तार) स्नान करने करानेवालेको रखो।' जो उष्णदेश हों, वहां स्नानकी बहुत आवश्यकता होती है। गर्मीके दिनोंमें

'शराब पचानेवाला' ऐसा भी दूसरा अर्थ है। ये अर्थ यहां अभीष्ट नहीं। क्योंकि वेदने मद्यपानकी निन्दा करके निषेध किया है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ॥
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ (ऋ० ८।२।१२)

'(न) जैसे (सुरायां) शराब (हृत्सु पीतास) दिल खोलकर पीनेवाले (युध्यन्ते) आपसमें लडते हैं, तथा (न) जैसे (नग्ना) नंगे होकर (ऊधः) रातभर (जरन्ते) बडबडते हैं, वे (दुर्मदास) दुष्ट बुद्धि लोक होते हैं।' दुर्मदका अर्थ जिनका मद दुष्ट होता है, आनंद करनेकी रीति जिनकी बहुत बुरी होती है, जो शराब आदि पीकर नाचना ही खुशीका चिह्न समझते हैं वे 'दुर्मद' होते हैं। 'सु-मद' ऐसे नहीं हुआ करते वे सभ्यतासे रहते हैं। 'सुमद' लोक नारियलका पानी तथा केवल शुद्ध जल पीते हैं। तथा—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ॥
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥
(ऋ० १०।५।६ ॥)

'(कवय) ज्ञानी लोगोंने (सप्त मर्यादाः) सभ्यताकी सात मर्यादाएं (ततक्षु) बनाई हैं। (तासां एकां) इनमेंसे एक मर्यादाका भी जो (अभि-गात्) उल्लंघन करता है, वह (अंहुर) बडा पतित होता है। परंतु जो (धरुणेषु) धारण शक्तियोंमें रहनेवाले (उप-मस्य) उपमा देनेयोग्य (नीळे नीळे नी+इळे) उच्च शांतिमें, तथा (पथां वि-सर्गे) अनेक मार्गोंका जहां उपसर्ग नहीं, ऐसे स्थानमें (तस्थौ) स्थिर रहता है वह मानो (ह) निश्चयसे (आयो) प्रगतिके (स्कम्भे) स्तंभ पर आरूढ हुआ है।"

सात मर्यादा— (१) स्तेय—चोरी। (२) तल्पारोहण—परस्त्री गमन व्यभिचार। (३) ब्रह्म-हत्या—ज्ञानीका वध करना, ज्ञानके प्रचारमें प्रतिबंध करना। (४) भ्रूण-हत्या— बालकका वध, गर्भका वध करना, 'भ्रूण' धातुका अर्थ— 'आशा' ऐसा पाणिनीमुनीका दिया

हुआ धातुपाठमें है। आक्षा अथवा विनाश करना ये अर्थ सब कोशोंमें है।
इससे 'द्रुह' के अर्थ आक्षा, विनाश मरोड़ा इस प्रकार होते हैं। अर्थात्
अक्ष-द्रुह का अर्थ— विनाश-कारक; धोखेबाजी; बेइमानी; मिथ्या
देना भी हो सकता है। विश्वास-घात करना भी बड़ा पाप है। (५)
सुरा-पान—शराब पीना। (६) दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः
सेवा—दुराचारको बारंबार करते जाना। किसी समय मनुष्यसे दुरा
चार होता है परन्तु ज्ञानीके कहनेके पश्चात् भी बारंबार दुराचार करते
जाना, यह बहुत बुरा है। (७) पातके अनृतोद्यं—पातक करने
के पश्चात्, उसको छिपानेके लिये असत्य बोलकर अपने पापको बचानेका
यत्न करना। विद्वानोंकी मानी हुई ये सात वैदिक मर्यादाएं हैं। इनमेंसे
किसीका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पतित होता है। इसका वर्णन निरुक्त
६, २८ में देखने योग्य है॥

जो धार्मिक मनुष्य अपने इंद्रियोंको शांत रखता है वह प्रगतिके इस
भूमीपर स्थिर रहता है। अथवा सबसे आरम्भ और पोषणकारक धार्मिक
शक्तियां समझी जाती हैं। 'उप-म' का अर्थ उपमा देने योग्य आदर्श
जीवन। 'नीड' शब्द मूलतः 'नीळ' शब्द है। इळ् धातुका अर्थ 'शांति
प्राप्त करना' है। विशेष संपूर्ण शांति प्राप्त करना 'नी+इळ' का तात्पर्य
है। नी+ईड का अर्थ पूर्णतासे स्तुति करने योग्य स्तुत्य देवता हो सकता
है। धर्मा का अर्थ धारक, वि-धर्म का अर्थ 'अ-उत्पत्ति अनुत्पत्ति
उत्पत्तिकी विरोधी स्थिति। पथां वि-सर्गे का अर्थ 'जहां अनेक मार्गोंका
उपयोग नहीं होता है परंतु सीधा एक राजमार्ग होता है। मतमतांतरोंके
झगड़ोंके बढ़ानेसे अनेक मार्ग होते हैं जिनमें मनुष्य भ्रांत होकर
भ्रम जाता है। जहां भिन्न मतोंके भिन्न मार्गोंका झगड़ा नहीं हुआ उस एक
निश्चित धार्मिक अवस्था का नाम 'पथां वि-सर्गे' है। अस्तु।

इन मंत्रोंसे पता लग जायगा कि 'मद्य पान' वेदको सम्मत नहीं। मद्य-

पानसे भवनति होती है ऐसा स्पष्ट आदेश उक्त मन्त्रोंमें है। वेदमें परस्पर विरोधी उपदेश नहीं है। इसलिये मद्यपानका निषेध होनेके पश्चात् परिशेषसे ' शुद्ध-जल-पान, अथवा नारिकेल जल पान ' ही 'सुरा' शब्दसे यहां अभीष्ट है, यह निश्चय समझना चाहिए। भ्रमजालके वाक्योंसे कोई न फस जाय, इसलिये यहां 'सुरा' शब्दके विषयमें इतना लिखना पडा है। ' सु ' धातुसे ' सुरा ' शब्द बनता है जिसका अर्थ रसकी शुद्धि करना है।

' (कीलालाय) उत्तम पेयके लिये (सुरा-कारं) शुद्ध जल बनानेवालेको प्राप्त करो।'

स्वास्थ्य-विभाग

शारीरिक स्वास्थ्य

' (२६) पवित्राय भिजषम्। ' [५६]

' (पवित्राय) शुद्धताके लिये (भिषज) वैद्यको प्राप्त करो। ' शुद्धता रखनेसे शरीरमें तथा नगरोंमें रोग नहीं होते। शुद्धता ही रोगोंको दूर करानेवाली है। जो रोगोंसे बचना चाहते हैं वे शरीरके अदर, शरीरके बाहर तथा नगरोंके अदर और बाहर अत्यत स्वच्छता रखें। ऋतुओंके अनुकूल स्वच्छता करनेके नियम वैद्य जानते हैं। इसलिये शुद्धताके कार्योंके लिये वैद्योंको प्रयुक्त करना चाहिए। भिषक् उसको कहते हैं कि (' बिभेत्यस्माद् रोग इति भिषक्।) जिससे रोग डरते हैं, जिसके भयसे बीमारियां डरके मारे दूर भागती हैं, वह भिषक् होता है।

आचार-स्वास्थ्य।

'(२७) दुष्कृताय चरकाऽऽचार्यम्। ' [१४१]

' (दुष्कृताय) दुराचार, पाप हटानेके लिये (चर-क-आचार्य) चालचलनके आचारोंकी शिक्षा देनेवालेको प्राप्त करो। '

मानी पुरुषोंको इस कार्यके लिये चुनना चाहिए।

' (२९) स्वर्गाय लोकाय भाग-दुघम्। ' [८९]

' (स्वर्गाय लोकाय) उत्तम वर्गके लोकोंके लिये (भाग-दुघं) विभागके अनुसार बांटनेवालेको प्राप्त करो। ' ' स्वर्ग ' का अर्थ 'सु-वर्ग' उत्तम वर्ग, उत्तम श्रेणी। 'स्वर्ग लोक' का अर्थ 'उत्तम श्रेणीके लोक, उत्तम श्रेणीके लोकोंका प्रदेश।' ' भाग–दुघ् ' अपने भागका ही दोहन करने वाला। 'दुह' धातुका अर्थ दोहन करना, दूध निकालना। इससे ' दुघ् ' बना है। गायके चार स्तन होते हैं उनमें दो बछडेके लिये तथा दो मालिकके होते हैं। दूध निकालनेवालेको उचित होता है कि बछडेका भाग बछडेके लिये रखकर अपने ही भागका दूध निकाले। यही ' भागका दोहन ' है। राजाकी प्रजा गौ है। राजा प्रजाका दोहन करता है। जितना भाग प्रजासे दोहना उचित है उतना ही दोहना चाहिए। जो-अपने भागके अनुकूल ही दोहता है वह ' भाग-दुघ् ' कहलाता है। राज–पुरुषोंके विषयमें भी यही बात जाननी उचित है, वह देश स्वर्गधाम बनता है कि, जहा प्रजासे योग्य विभागका ही दोहन किया जाता है। अर्थात् वह देश नरक बन सकता है, कि जहां योग्य विभागसे अधिक प्रजाका दोहन होता हो।

'(३०) प्रतिश्रुत्कार्य अर्तनम्। ' [१४३]

'(प्रति श्रुत्कार्य) प्रतिज्ञा, वादा, यकरार आदिके लिये (अर्तन) सरल स्वभाववालेको रखो।

'ऋत्' धातुसे 'अर्तन' शब्द बनता है। 'ऋत्—जुगुप्सायां कृपायां च।' बुराईकी निंदा और भलाई पर कृपा करनेवाला 'अर्तन' कहलाता है। जो ठीक है वही कहनेवाला, छोटे बडेका पक्षपात न करता हुआ, ठीक न्यायानुकूल चलनेवाला अर्तन ' होता है।

दु ख करना होता है परन्तु यहां 'तेज' ऐसा ही अर्थ है। 'शोक' शब्दका यह अर्थ वेदमें कई स्थानोंमें है, देखिये—

यस्ते शोकाय तन्व रिरेच क्षरद्धिरण्य शुचयो नु सा ॥
(अथर्व ५।१।२)

(शोकाय) तेजके लिये जो तेरे शरीरको प्राप्त होता है वह शरीर प्रवाही सुवर्णके समान अपने शुद्ध प्रकाशसे युक्त है। ' इस प्रकार ' शोक ' का अर्थ तेज, उष्णता, गर्मी है।

कोशविभाग।

'(३६) निर्ऋत्यै कोश-कारीम् ' [९९]

(निर्ऋत्यै) आपत्तिके लिये (कोश-कारीं) धनकोशके व्यवस्थापकको रखो। राजाके पास स्थिर धनकोश सदा रहना चाहिये। जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आजावे, विनाशका समय प्राप्त होवे, उस समय उस स्थिर द्रव्यका व्यय किया जावे। राजालोग अपने ऐश आरामके लिये राष्ट्रके धनकोशसे जो खर्च करते हैं, वह ठीक नहीं, ऐसा इस आज्ञासे पता लगता है। राष्ट्रकी कठिनता दूर करके लोगोंको सुख पहुंचानेके लिये ही राष्ट्रकोशका व्यय होना चाहिये।

'(३७) महसे गणकम् '[१५७]

(महसे) शक्तिके लिये (गणकं) गिननेवालेको रखो राष्ट्रनिधिकी गिनती करनेसे धनकी शक्तिका ज्ञान होता है। इसलिये अपनी शक्तिकी गिनती सदा रखनी चाहिये और इस कार्यके लिये एक गिनती करनेवाला निश्चित होना चाहिये। हर एक शक्तिके विषयमें यह आज्ञा लाभदायक हो सकती है। गिनती होनेसे प्रत्येक शक्तिका प्रमाण ध्यानमें आ सकता है। और जो न्यून हो उसको बढानेका प्रयत्न किया जा सकता है।

ख गोल-ज्योतिष विभाग।

'(३८) प्रज्ञानाय नक्षत्र- दर्शम्। '[५७]

(प्रज्ञानाय) विशेष ज्ञानके लिये (नक्षत्र-दर्श) नक्षत्रोंको देखनेवाले अर्थात् खगोल ज्योतिष- विद्या जाननेवालेको रखो।

' नर्म ' शब्द ' नृ-मन् ' से बनता है। जिसका अर्थ मर्दानी खेल है। ' एष मनुष्यानि चालयति। ' जो मनुष्योंको सचालित करता है। लोगोंमें व्याख्यानद्वारा जो विशेष प्रभाव और उत्साह उत्पन्न करता है।

स्त्री-विभाग।

'(४५) वत्सराय विजर्जराम्। [१०७]
(४६) संवत्सराय पर्यायिणीम्। [१०३]
(४७) परिवत्सराय अ-विजाताम्। [१०४]
(४८) इदावत्सराय अतीत्वरीम्। [१०५]
(४९) संवत्सराय पलिक्नीम्। [१०८]
(५०) इद्वत्सराय अतिष्कद्वरीम्। [१०६]

(वत्सराय) पांच वर्षोंके एक युगके लिये (वि-जर्जरां) वृद्ध स्त्रीको रखो। (सवत्सराय) प्रथम वर्षके लिये (पर्यायिणीं) कालक्रम जाननेवाली स्त्रीको रखो। (परिवत्सराय) द्वितीय वर्षके लिये (अ विजातां) ब्रह्मचारिणी कुमारी विदुषीको रखो। (इदावत्सराय) तीसरे वर्षके लिये (अतीत्वरीं) शीघ्र उन्नति करनेवाली विदुषीको रखो। (सवत्सराय=अनुवत्सराय) चतुर्थ वर्षके लिये (पलिक्नीं) सफेद बालोंवाली वृद्ध स्त्रीको रखो। (इद्वत्सराय) पचम वर्षके लिये (अति ष्कद्वरीं) अत्यंत ज्ञानी स्त्रीको रखो।

पांच पाच वर्षोंका एक एक युग होता है। स्त्रियोंकी उन्नति स्त्रियोंको ही सोचनी चाहिये। इसलिये पाच वर्षोंके एक युगके लिये एक ज्ञानी कर्तव्याकर्तव्य जाननेवाली स्त्रीको अध्यक्ष निश्चित करके, उसके आधीन कार्य करनेके लिये प्रतिवर्ष अलग अलग स्त्रीको रखना चाहिये। पहले वर्ष पूर्व क्रमको जाननेवाली, दूसरे वर्ष विदुषी कुमारिका, तीसरे वर्ष शीघ्र उन्नति करनेवाली, चौथ वर्ष वृद्धा, पाचवे वर्ष अत्यत ज्ञानी स्त्रीको रखना।

(२) क्षत्रिय-वर्ण-विभाग।

'(१) क्षत्राय राजन्यम्।' [२]

'क्षत्र' शब्दका अर्थ = राज्य; शक्ति; प्रधानता, राज्यशासन; राज्यशासक मण्डल; उच्चवर्ण्या क्षत्रिय; शौर्यप्रताप; शौर्ययुक्त धैर्य। 'क्षत त्राणात् क्षत्र। क्षत्रेण युक्तः क्षत्रिय।' क्षत अर्थात् व्रणसे बचानेवाला शौर्य क्षत्र कहलाता है, यह शौर्य जिसके पास होता है, वह क्षत्रिय होता है। 'क्षणु हिंसायां' इस धातुसे 'क्षत' शब्द बनता है। हिंसा, दुःख, कष्ट, हानि, अवनति' आदि उसका आशय है। अवनतिसे जो बचाता है, शत्रुओंसे जो अपने राष्ट्रको बचाता है वह 'क्षत्+त्र–इय' (क्षत्रिय) होता है। जिन गुणोंसे राष्ट्रका स्वत्व रहता है, और देशका संरक्षण होता है उन गुणोंका नाम 'क्षत्र' (क्षत्+त्र)।

(क्षत्राय) शौर्यवीर्यके लिये (राजन्य) क्षत्रियको प्राप्त करो।

सुवीरका लक्षण।

नयसीद्वति द्विष कृणोष्युक्थशंसिन ।
नृभि' सु—वीर उच्यसे (ऋ ६।४५।६)

(द्विष) द्वेष करनेवाले शत्रुओंसे (अतिनयसि) बचाकर पार ले जाते हो (इत उ) और निश्चयसे लोगोंको (उक्थ-शंसिन) स्तुति करने योग्य (कृणोपि) करते हो, इसलिए (नृभि) सब मनुष्य अथवा सब नेता लोग तुमको (सु-वीर) उत्तम शूर (उच्यसे) कहते हैं।'

अर्थात् शूर पुरुषका यही कार्य है कि, वह लोगोंका शत्रुओंसे संरक्षण करे और उनको एक ईश्वरके उपासक बनावे तथा—

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून्
(ऋ ९।९०।३)

सब देशके लोग सदा जागते रहें, अर्थात् अपनी राष्ट्रीय उन्नतिके विषयमें कोई भी बेफिकिर न रहे । तथा—

महते क्षत्राय महत आधिपत्याय महते जानराज्याय ।
(यजु ९।४० ॥ तै सं १।८।१०)

' बडे (क्षत्राय) शौर्यके लिये, बडे (आधिपत्याय) अधिकारके लिये तथा बडे (जान-राज्याय) जनताके शासनके लिये ' प्रयत्न होना चाहिए । यहांका ' जान-राज्य ' शब्द लोकशासन अर्थात् सब लोगोंकी अपनी स्वसमतिसे अपने उद्धारके लिये चलाया हुआ शासनका भाव बताता है ।

अस्तु । इस प्रकार शूरके शौर्य वीर्य आदि गुणोंका वर्णन वेदमन्त्र कर रहे हैं, वह सब यहां देखना उचित है ।

'(२) बलाय अनु-चरम् । ' [८९]

(बलाय) सैन्यके लिये (अनु-चर) आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको रखो ।

' (३) बलाय उप-दाम् । ' [५०]

(बलाय) शक्तिके लिये (उप-दां) सहारा देनेवालेको रखो ।

' (४) नरिष्ठायै भीमलम् । ' [१४]

' नरिष्ठा ' का अर्थ—(१) नरि-ष्ठा अर्थात् मनुष्योंमें स्थिरता । ' स्थ, स्था, स्थान ' का अर्थ— अवस्था, स्थिति, लोगोंके अदरका स्थान, देश, प्रात, ओहदा, वर्ग, महत्त्व, इष्ट उद्देश; राष्ट्रीय बल, राष्ट्रीय तेज, देशका सत्व । ' नरि-ष्ठा ' का अर्थ-मनुष्योंके अदरका सत्व ।

(नरि-ष्ठायै) जनता के राष्ट्रीय सत्वके लिये (भीमल) महाप्रतापीको रखो ।

'(५) नारकाय वीर-हणम् ।' [९]

नार-क' का अर्थ—'नराणां समूहो नारः । मनुष्योंके समुदायका नाम नार होता है। मनुष्योंका संघ । 'नारं सम्पर्कं करोति इति नार-कः' जो मनुष्योंका संघ बनाता है वह नारक कहलाता है। नर = नेता।

'वीर हन' का अर्थ-शत्रुके शूर पुरुषोंको चुन चुन कर मारनेवाला।

(नारकाय) सैन्य संघके लिये (वीर-हनं) शत्रुवीरोंको मारनेवा-लोंको रखो।

'(६) प्र-मदे कुमारी-पुत्रम् ।' [१८]

प्रमद का अर्थ— मतवाला, मस्त, मत्त, बलवान, खुश, खुशी।

कुमार का अर्थ— राजपुत्र, युवक देव 'कु-मार'— (कुत्सित मार करना) जिसका हमला बहुत बुरा है,

कुमारी का अर्थ-राजपुत्री युवती देवी दुर्गा अर्थात् पाप करनेके लिये कठिन देवी जो कि जिसका तेज सहन करना बहुत कठिन है।

कुमारी-पुत्र का अर्थ—बड़ी शूर प्रभावशाली वीरका पुत्र। पुत्+त्र अर्थात् कष्टोंसे बचानेवाला वास्तवमें 'पुत्र' कहलाता है। 'कुमारी' शब्दका अर्थ अविवाहित कन्या ऐसा प्रचलित है वह यहां अभीष्ट नहीं है।

(प्रमदे) बलवान शत्रुके लिये (कु-मारी-पु-त्र) शूर वीरके वीर पुत्रको रखो।

'(७) पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम् ।' [२२]

(पुरुष-व्याघ्राय) मनुष्योंमें शेरके समान (दुर्-मदं) प्रचंड आवेश वालेको रखो। पुरुष-व्याघ्र उसको कहते हैं कि जो अपनी शूरवीरताके कारण तथा वीरताके कारण मुखियापनको प्राप्त हुआ है। इस प्रकारके शत्रुके साथ लड़ने प्रचंड वीरको सामनेके लिये रखना चाहिये।

'(८) पिशाचेभ्यो वि-दल-कारीम्।' [३९]

(पिशाचेभ्य) पिशाचोंके लिये (वि-दल-कारीं) विशेष प्रकारकी सैन्यकी रचना करनेवालेको रखो।

'पिशित भाषामतीति पिशाचः।' रक्तमांसभक्षक, नरमांसभोजी मनुष्य, कच्चा मांस खानेवाला तथा रक्त पीनेवाला मनुष्य पिशाच कहलाता है।

'विदल-कारी' का अर्थ 'विभेदन करनेवाला'। रक्तमांसभोजी अथवा खून-चूस आदमीयोंके लिये अर्थात् उनको स्वाधीन, काबू करनेके लिये ऐसे आदमीको रखो कि, जो उनमें विभेद उत्पन्न कर सके।

'(९) यातु-धानेभ्यो कण्टकी-कारीम्।' [४०]

'यातु धान' का अर्थ— चोर, डाकू, लुटेरे, धानकी चोरी करनेवाले। जो मार्गोंमें रहकर प्रवासियोंको लूटते रहते हैं।

'कण्टकी' का अर्थ-- कष्ट देनेवाला मनुष्य, सुराज्यका विरोधी, सुव्यवस्थाका विरोधी। 'कटकः' -कांटा, चुभनेवाला पदार्थ, चुभनेवाला नोकदार शस्त्र। 'कटकिन्' = नोकदार शस्त्रोंको धारण करनेवाला सैनिक। 'कटकी-कारी' = नोकदार शस्त्रधारी सैनिकोंका सैन्य तैयार करनेवाला।

(यातुधानेभ्य) डाकुओंके लिये (कण्टकी-कारीं) भालेवाले सैन्यको रखो।

अथवा इस मन्त्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि, (यातुधानेभ्य) डाकुओंका बंदोबस्त करनेके लिये (कटकी-कारीं) राज्यव्यवस्थाका विरोध अथवा दगा फिसाद, करनेवाले जो लोग होते हैं, उनको ही रखो। अर्थात् उनसे यह काम लो, ताकि उनका सब बल डकुओंको हटानेमें लगेगा और नागरिकोंके कष्ट भी दूर होंगे।

(दिष्टाय) नाशके लिये (रज्जु-सर्प) निश्चित मार्ग पर चलनेवालेको रखो।

'(१२) उत्सादेभ्यः कुब्जम्।' [५८]

'उत्साद' का अर्थ— उन्नति करना, ऊपर उठाना; निश्चित प्रबन्धकी स्थिरता, उन्नति, पूर्णता, सिद्धि, गिरना, पलटाना, नाश, शत्रुविनाश॥

'कुब्ज' का अर्थ— तल्वार जो सीधी नहीं होती परन्तु जरासी आगे जाकर गोल होती है। उक्त प्रकारकी तलवार चलानेवाला।

(उत्सादेभ्य) शत्रुविनाशके लिये (कुब्ज) तलवार बहादूरको रखो।

'(१३) पाप्मने सैलगम्।' [१४२]

'सैल' का अर्थ— 'सेल अथवा सेल' — एक प्रकारका शस्त्र। 'सैलेन सह गच्छति इति सैलग' अर्थात् जो सदा अपने साथ शस्त्र धारण करता है वह 'सैल ग' होता है।

'पाप्मन्' = पाप+मन् = का अर्थ- दुःख देनेवाला, सतानेवाला; टेढेपन, पाप, गुन्हा; गुन्हेगार।

(पाप्मने) गुन्हेगारके लिये (सैल-ग) शस्त्रधारीको रखो।

'(१४) अवऋत्यै वधाय उपमान्थितारम्।' [७८]

'अव ऋति' का अर्थ— हमला, धावा, शत्रुता, वैर, अदावत; गाली देना, दुरुपयोग। 'अवऋति-वध' का अर्थ- शत्रुताके कारण हमला करके किया हुआ वध,

(अव ऋत्यै वधाय) हमला करके वध करनेवालेके लिये (उप-मथितार) खिलबिली मचानेवालेको नियुक्त करो।

'उपमान्थिता' का आशय यह है कि, हमला करके वध करनेवाले दुष्टोंमें इस प्रकार खिलबिलाके साथ डर उत्पन्न करना कि वे फिर वैसा कर्म न करें, और शासनके भयसे कोई दुष्ट फिर ऐसे गुन्हे करनेके लिये प्रवृत्त न हो सके।

राजनीति विभाग।

'(१५) भृतये स्तेन-हृदयम्।' [८१]

भृति का अर्थ— शत्रु अथवा भिन्न मनुष्य हनन।

(भृतये) शत्रु हननके लिये (स्तेन-हृदयं) ऐसे मनुष्यको रखो कि जिसका हृदय चोरके समान विचार गुप्त रखता है।

शत्रुके साथ व्यवहार करनेके समय अथवा युद्धके समय सर्वसाधारण सब बातें तथा सब कृत्य नहीं करने चाहिये। बहुत समय सब विचार तथा सब व्यवहार बड़े गुप्त रखने होते हैं, इसलिये ऐसे समय इन कार्योंके लिये ऐसे मनुष्य रखने चाहिये कि जिनके हृदय चोरके समान होते हैं। चोर अपना सब व्यवहार जैसे छिपकर करता है वैसे जिनके व्यवहार गुप्त होते हैं। जो हृदयके गुप्त बातोंको छिपाकर रख सकता है, और किसी प्रकार भी अपने बाहरी आदिके आचारोंसे उन गुप्त बातोंका प्रकाश नहीं करता वह मनुष्य स्तेन-हृदय कहलाता है।

'(१६) वैरहत्याय पिशुनम्।' [८२]

पिशुन का अर्थ- बतानेवाला सूचना देनेवाला, छिद्र करके बताने वाला।

(वैर-हत्याय) शत्रुओंके नाशके लिये (पिशुनं) अपनी बातको छिद्र करके बतानेवालेको नियुक्त करो।

सन्धिपत्रको बतानेसे और दोनों तरफसे भरपाईका स्वीकार करनेसे शत्रुत्वका नाश हो सकता है। यह मंत्र न्याय विभागमें भी रखा जा सकता है। परंतु मैंने इसको यहां इसलिये रखा है कि इसका दूसरा भी एक अर्थ संभवनीय है—

(वैर-हत्याय) शत्रुओंका नाश करनेके लिये (पिशुनं) चुगली करने वालेको रखो।

१ (पुरुषमेध)

प्रबल शत्रुका नाश करनेका ' भेद ' उपाय है। शत्रुके वीरोंमें आपसमें द्वेष उत्पन्न करनेके लिये चुगली करनेवाले लोगोंको रखना। जिससे, वह चुगलखोर चुगलिया कर करके, शत्रुके वीरोंमें झगडे खडे करके, शत्रुका बल घटायेगा। साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय राजनीतिमें कहे हैं, उनमें ' भेद ' उसको कहते हैं कि, जिन उपायोंसे शत्रुदलमें मतभेद उत्पन्न किये जाते हैं। विचारकी एकताके कारण बल बढता है, और विचारकी भिन्नता होनेके कारण बल घटता है। शत्रुके मनुष्योंमें आपसमें मतभेद, भिन्न विचार अथवा आपसके झगडे बढानेका काम करनेवालेको ' पिशुन ' कहते हैं।

इस मन्त्रके अर्थके विषयमें विचारी स्वाध्यायशील विद्वान अधिक सोच कर सच्चे अर्थकी खोज करें।

' (१७) विविक्त्यै क्षत्तारम्। ' [८३]

' विविक्ति ' का अर्थ— विभिन्नता, भेदभाव; पक्षभेद।

(विविक्त्यै) भेदभाव उत्पन्न करनेके लिये (क्षत्तार) विभाग करनेवालेको रखो।

' (१८) औपद्रष्ट्याय अनुक्षत्तारम्। ' [८४]

(औपद्रष्ट्याय) निरीक्षणके लिये (अनु-क्षत्तार) निम्राणी करनेवाले परिचारकको रखो।

अपने अपने कार्य करनेके लिये नियुक्त किये हुए लोग ठीक प्रकार कार्य कर रहे हैं या नहीं इसका निरीक्षण करनेके लिये उस कामके लिये योग्य निरीक्षक रखने चाहिए। जो उन कार्य कर्ताओंके पीछे पीछे रहकर उनके कायका अच्छी प्रकार निरीक्षण करते रहें।

' (१९) आध्यक्ष्याय अनुक्षत्तारम्। ' [७०]

(आध्यक्ष्याय) सबकी अ[illegible]

(मर्मेभ्यः) गतिके लिये (हस्ति पं) हाथी-सवारको रखो । (जवाय) वेगके लिये (अश्व-प) घोडे सवार, साइस, अथवा घोडोंका पालन करने वालेको रखो । इसी प्रकार 'हस्ति प' शब्दसे हाथियोंका माहुव, हाथियोंका अच्छी प्रकार पालन करनेवाला आदि भाव समझने चाहिये। यहां योग्य अर्थकी खोज विचारी पाठक करें।

सभा संमति।

'(२७) आस्कंदाय सभा-स्थाणुम्।'[१३७]

' आस्कद ' का अर्थ– चढाई, हमला, धावा, युद्ध ।

' सभा स्थाणु ' का अर्थ– जो स्तंभके समान सभाका आधार होकर सभाको स्थिर रखता है।

(आस्कदाय) युद्धके लिये (सभा-स्थाणुं) सभाके आधारभूत पुरुषको प्राप्त करो ।

युद्धके लिये लोकसभाकी अनुमति अथवा समति लेनी होती है। इसलिये सभाके उन सभासदोंको प्राप्त करना, कि जो सभाके आधाररूप होते हैं। जिनके अनुकूल होनेसे सभाका मत अनुकूल होगा, तथा जिनके विरोधसे सभाका मत प्रतिकूल होनेकी सभावना होती है।

अरण्य-विभाग।

'(२८) वनाय वन-पम्।'[१५१]

(वनाय) वनके लिये (वन-प) वनका सरक्षण करनेवालेको रखो।

'(२९) अन्यतो अरण्याय दाव-पम्।' [१५२]

(अन्यतो अरण्याय) दूसरे प्रकारके बडे अरण्यके लिये (दाव प) अग्निसे बचानेवालेको रखो ।

शहरोंके पास जो जंगल रहते हैं, जहां थोडे कष्टसे मनुष्य जाकर वनका विहार कर सकते हैं उन प्रदेशोंको वन कहते हैं। परन्तु जो घनघोर जगल होते हैं जहां साधारण मनुष्य विशेष कष्टके विना नहीं पहुंच सकते, उन विकट वनोंको अरण्य कहते हैं।

जैसी पद्धति जानता है उसको रखो ताकि उसका सर्वथा ठीक प्रकार हो सके।

'(४४ (अभिकाम्यो नैषादम् । ' [१२]

(अभिक्रमणः) जंगली क्रूर पशुओंके लिये (नै-षादं) जंगली मनुष्यको रखो। वह उनका इंतजाम अच्छी प्रकार करे।

' (४५) बीभत्सायै पौल्कसम् । ' [१२६]

(बीभत्सायै) क्रूर कर्मोंके लिये (पौल्कसं) जंगली जन्य मनुष्यको रखो। इस मन्त्रके अर्थके विषयमें अधिक विचार की आवश्यकता है।

नगर पालना विभाग।

' (४६) ग्राम्यै ग्रामम् । [५६]

(४७) गेहाय उप-पतिम् । [४२]

(४८) महाय गृह-पम् । ' [६८]

(ग्राम्यै) दरवाजोंके लिये (ग्राम-ग्रामं) परिश्रमी पुरुषको रखो। ताकि वह दरवाजोंका अच्छी प्रकार संरक्षण कर सके। (गेहाय) घरके लिये (उपपतिं-उपपालकं) सहायक संरक्षक रखो। बड़े महलोंमें द्वारके संरक्षणके लिये अलग तथा उन भीतिके संरक्षणके लिये अलग मनुष्य हुआ करते हैं। (महाय) महलातके लिये (गृह-पं) घरोंका रक्षण करनेके लिये संरक्षक रखो। गृहान् पाति रक्षति इति गृह-प जो अनेक घरोंका संरक्षण करता है अर्थात् महलका संरक्षण करता है उसको गृह-प कहते हैं।

इन महलोंमें एक संरक्षक हो उसके आधीन घरोंके रक्षक काम करें तथा उसके नीचे द्वारोंके रक्षक अपना रक्षणादीका काम करें।

जार विभाग

' (४९) आर्त्यै परि-वित्तिम् । [४६]

(५०) निर्ऋत्यै परि-विविदानम् । [४४]

'(३८) विषमेभ्यो मैनालम्। '[११८]

(वि-समेभ्य) विषम अर्थात् ऊंचे नीचे स्थानोंके लिये (मैनाल) स्थानोंको गिननेवालेको रखो। जिसको सब स्थानोंका ज्ञान है, ऐसे मनुष्य को रखो ताकि उससे सबको लाभ पहुंचे।

'(३९) वैशन्ताभ्यो वैन्दम्। [११३]
(४०) नड्वालाभ्यः शौष्कलम्। [११४]
(४१) पाराय मार्गारम्। [११५]
(४२) आवाराय कैवर्तम्।' [११६]

(वैशन्ताभ्य) छोटे तालावोंके लिये (वैन्द) खबरदारी करनेवाले को रखो, जो उन तालावोंके पानीको ठीक प्रकार शुद्ध रखें तथा चारों ओरकी सफाईके विषयमें खबरदारी रखें।

(नड्वलाभ्य) नरसलवाले स्थानोंके लिये (शौष्कल) सुष्क करने वालेको रखो। जो नरसलोंको सुखाकर उन सुष्क नरसलोंसे वाण अथवा तीर बनाता है। (पाराय) नदी आदिके पार होनेके लिये (मार्गारं) मार्ग जाननेवालेको रखो। जो ठीक मार्गसे पार ले जा सकता तथा आगेका मार्ग भी बता सकता है। (आवाराय) पानीके स्थानोंमें आश्रयके लिये (कैवर्त) जो पानीमें रहनेवाला होता है, उसको रखो। 'के उदके वर्तते इति कैवर्त ' जो उदकमें रहता है, अर्थात् पानीमें सहायता करनेमें प्रवीण। तैरना आदि अच्छी प्रकार जाननेके कारण जो दूसरोंको जलके डरसे बचा सकता है।

'(४३) उप स्थावरेभ्यो दाशम्।' [११२]

(उप-स्थावरेभ्य) उप-वन आदिके लिये (दाशं) निकृष्ट मनुष्यको रखो। अथवा (उप-स्थ अ-वरेभ्य) पास रहनेवाले कनिष्ठोंके लिये (दाश-दास) जाननेवाले को रखो। अर्थात् जो उनकी व्यवस्था कर-

(५१) अराध्यै एदिधिषुः पतिम् [४५]'

(आर्त्यै) कष्टके समयके लिये (परि वित्तिम्) सब प्रकारसे ज्ञान प्राप्त करनेवालेको रखो । ' परितः सर्वतः विन्दति वेत्ति वा स परिवित्ति ।' जो अनेक प्रकारसे सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है उसको ' परिवित्ति ' कहते हैं । सब प्रकारका सच्चा ज्ञान प्राप्त करके कष्टके समयपर उसका उपयोग करके लोगोंको कष्टोंसे संरक्षण करना इसका काम होगा । (निर्-ऋत्यै) अवनतिके लिये (परि विविदान) सब प्रकारके विशेष ज्ञानको पास रखनेवालेको रखो । ' परित सर्वत विशेषेण विन्दति ' जो सबसे पहले सब प्रकारका विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकता है । अवनतिको हटानेके लिये इस प्रकार विशेष ज्ञानीकी योजना करनी चाहिये । (अ राध्यै) असिद्धिके लिये (एदिधिषु पतिम्) सबसे पहले धारक और पालकको रखो । ' अग्रे पूर्वमेव दिधिषति धारयितुं पायितुं वा इच्छति एदिधिषु ' जो सबसे पूर्व धारण पालनकी इच्छा करता है वह एदिधिषु कहलाता है । इस प्रकारके पालकको जल्दी सिद्ध न होनेवाले कर्मोंके लिये रखो, ताकि सबसे पहले ही वह धारण पोषणके कार्य उत्तमतासे करके सब कार्य सिद्ध कर सके ।

ये तीन ही मंत्र विशेष विचार करने योग्य हैं । (१) ' परिवित्ति (२) परिविविदान तथा (३) एदिधिषु पति ', ये तीनों शब्द सबसे पहिले ही भोग प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छाका भाव बताते हैं । इसलिये इन शब्दोंका लौकिक संस्कृतमें निम्न प्रकार उपयोग होता है । पहिले दो शब्दोंका लौकिक अर्थ—बडा भाई विवाहित होनेसे पूर्व ही अपना विवाह करनेवाला छोटा भाई । तीसरे शब्दका लौकिक अर्थ—बडे बहिनका विवाह होनेसे पूर्व ही छोटी बहिनका विवाह जिस पतिके साथ होता है उस पतिका नाम ' एदिधिषु पति ' है ।

' परि-विद् ' धातुका अर्थ—ढूढकर निकालना; निश्चय करना, जांचना,

युवकके समय पुत्रोंको इसलिये रखना चाहिये कि वे अपने दीर्घ आयु पानेके अनुसरका काम होनेमें उपयोगी है सकेंगे। यदि युवककी मंडलीमें पक्षाभिमानी उत्तम ही रहेंगे तो युवक करते करते फिर युद्ध ही मारक बनेगा। इसलिये निष्पक्षपाती पुत्रोंकी मंडलीद्वारा युवक करनी उचित है।

राष्ट्र भृत्य-विभाग।

‘ (५७) अक्ष-राजाय कितवम् । ’ [११०]

(अक्ष-राजाय) राष्ट्रभृत्योंके प्रधानपदके लिये (कित-वं) विशेष ज्ञानीको रखो। कित-व शब्दका अर्थ पण्डित वा ज्ञानी है कित्-धातुसे इस अर्थमें यह बनता है। अक्ष शब्दके अर्थके लिये निम्न मंत्र देखने योग्य है—

यं वसव इति यो नामधेयमुभयस्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
(अथर्व ७२ ५१)

(वा नामधेयं) आपका नाम (व-सवः इति) उत्तम वसु ऐसा है। (जो मनुष्योंके निवासका उत्तम साधन होता है वही वसु कहलाता है।) आपका (उभय-पश्या) स्वरूप ज्ञानतेजसे युक्त है तथा आप (राष्ट्र-भृतः) राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले अतएव राष्ट्रके (अक्षाः) आंख हैं। (तेभ्यः व) उन आप राष्ट्र भृत्योंके लिये (हविषा) अर्पणद्वारा (इन्दवः) कोतिवृत्त (विधेम) हम सब करेंगे। देवें। जिससे (वयं) हम सब (रयीणां पतयः) धनोंके स्वामी (स्याम) होवेंगे।

इस मंत्रसे राष्ट्रभृत्य ही अक्ष हैं यह बात सिद्ध होती है क्योंकि इन्हीके कारण लोगोंका धन सुरक्षित रहता है। इन राष्ट्रभृत्योंके प्रधान पदके लिये विशेष ज्ञानीको ही रखना चाहिये। क्योंकि इसके आश्रयपर सब

१ अक्ष शब्दका द्यूत अर्थ यहां इष्ट नहीं क्योंकि अक्षैर्मा दीव्य। ऐसा वेदमें द्यूतका निषेध ही किया है।

रखो। सब मनुष्योंका हित करनेके लिये ऐसे मनुष्यको प्रयुक्त करो कि जिसका काम ज्ञान शौर्य-धन हुनर आदिका विस्तार करनेका हो। यह उक्त गुणोंका विस्तार करके सबकी उन्नति करे। (सर्वेभ्य लोकेभ्य) सब लोगोंके लिये (उप-सेक्तार) सिंचन करनेवालेको रखो। उपसिंचनका तात्पर्य वृक्षोंको पानी डालकर उनको हरेभरे करना, मनुष्योंमें जीवनका उत्साह उत्पन्न करके उनको प्रफुल्लित करना, ज्ञानादि गुणोंका अदरतक परिणाम पहुंचा कर मनुष्यजातिको उत्साहयुक्त करना।

' उपसेचन ' का तात्पर्य सब मनुष्योंमें विशेष तत्वों और गुणोंका सचार करना। ' प्रकरितृ ' का तात्पर्य जो मनुष्योंमें उत्साही विचारोंका फैलाव करता है।

' (५५) प्रकामोद्याय उप-सदम्। ' [४८]

(प्र-काम उद्याय) विशेष कार्य उपस्थित होनेपर (उप-सद) जो पास हो उसीको रखो। अर्थात् विशेष अवस्थामें विशेष प्रकारका कार्य अचानक उपस्थित होनेपर, जो उस समय पास रहनेवाले मनुष्योंमें योग्य होगा, उसीको प्रयुक्त करो। योग्यको ढूंढनेमें देरी होगी और देरीसे ही कार्य बिघड जायगा, ऐसी अवस्थामें इस आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिए।

संधि-विभाग।

' (५६) संधये जारम्। ' [४१]

(सधये) सुलह करनेके लिये (जार) वृद्धको रखो।

' जॄ वयोहानौ। जीर्यति इति जार। ' जिसकी बहुत आयु व्यतीत हो चुकी हो उसको ' जार ' कहते हैं। ' जार ' का अर्थ— वृद्ध होना। इसीका ' व्यभिचारी ' ऐसा अर्थ लौकिकमें प्रचलित है। वह यहा अभीष्ट नहीं। व्यभिचारसे वीर्य नाश होनेके कारण आयुका भी नाश होता है इसलिये व्यभिचारीका नाम ' जार ' हुआ है। परतु पहिला मूल अर्थ ' वृद्ध ' ऐसा ही है।

इससे आत्मिक सुविचारोंका पुरुषार्थके साथ विशेष संबंध है। इन राष्ट्रकर्मोंमें भेद पुरुषार्थका जीवन स्थिर रहनेके लिये सुविचारी लोगोंके साथ उनका मेलमिलाप होना चाहिये तथा उनका सम्मान सदा स्थिरता विद्वान रखना चाहिये।

'(६१) अग्नये पीवानम्। [१६३]
(६२) पृथिव्यै पीठसर्पिणम्। [१६४]
(६३) वायवे चांडालम्। [१६५]
(६४) अंतरिक्षाय वंशनर्तिनम्।' [१६६]

अग्निके साथ काम करनेके लिये (पीवानं) बलवान मनुष्यको रखो। पृथिवीके साथ काम करनेके लिये (पीठ-सर्पिणं) पीठसे चलनेवालोंको रखो। वायुके डोरी काम करनेके लिये (चंड-अर्क) प्रचंड कार्यकर्ताओंको रखो। अंतरिक्षमें कार्य करनेके लिये (वंश-नर्तिनं) बांसके साथ नाचनेवालोंको रखो।

'(६५) अह्ने शुक्लं पिंगाक्षम्। [१७१]
(६६) रात्र्यै कृष्णं पिंगाक्षम्। [१७२]

दिनके कार्यके लिये गोरे रंगके मनुष्योंको रखो जिनके भूरे आंख हों। तथा रात्रीके कार्योंके लिये काले रंगके मनुष्यको रखो जिनके भूरे आंख हों।

दिनके समय गोरा मनुष्य अधिकारमें रहे तथा रात्रीके समय काला रखा जाय। इस आशयका हेतु विचार करने योग्य है।

राष्ट्रभृत्योंका व्यवहार होता है। इनमें 'कृत, त्रेत, द्वापर और कलि' ऐसे चार भेद होते हैं। उनका लक्षण—

> कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
> उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
>
> (ऐत० ब्रा० ७।१५)

(१) सोनेवाला आलसी 'कली' होता है। (२) आलस छोडकर प्रयत्न करनेके लिये जो उद्यत होता है उसको 'द्वापर' कहते हैं। (३) जो पुरुषार्थ करनेके लिये लगता है वह 'त्रेता' कहलाता है तथा (४) जो पुरुषार्थमें सदा मग्न रहता है उसको 'कृत' कहते हैं। ये चार प्रकारके राष्ट्रभृत्य होते हैं।

'(५८) कृताय-आदिनव दर्शम्। [१३४
(५९) त्रेतायै कल्पिनम्। [१३५]
(६०) द्वापाराय अधिकल्पिनम्।' [१३६]

(कृताय) कृत अर्थात् कर्तव्य पुरुषार्थके लिये (आदिनव-दर्श) अपने दोष देखनेवालेको रखो। अपने दोषोंका पता लग जानेसे वह पुरुषार्थी अपने उन दोषोंको दूर करके, अपनी उन्नतिका साधन करके, श्रेष्ठ पुरुषार्थ कर सकेगा। (त्रेतायै) जो पुरुषार्थ करनेके विचारमें होता है उसके लिये (कल्पिन) विशेष कल्पना करनेवालेको रखो। अर्थात् उन कल्पनाओंका ग्रहण करके वह पुरुषार्थ करनेमें अच्छी प्रकार योग्य होगा। जिसके पास कोई कल्पना नहीं वह अच्छा पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। इसलिये पुरुषार्थ करनेका विचार मनमें आते ही विशेष उच्च कल्पनाओंद्वारा उनको उत्साहित करना चाहिए। (द्वापाराय) आलस छोडनेवालेके लिये (अधि कल्पिन) विशेष ख्याल करनेवालेको रखो। ताकि उनके विचारोंसे स्फुरित होकर वह आलस छोडनेवाला मनुष्य पुरुषार्थको प्रारंभ करके अपना कार्य अच्छी प्रकार निभा सकेगा।

'(३) तुलायै वाणिजम् ।' [१२५]

(तुलायै) तोलनेके लिये (वणिजं) बनियाको रखो । व्यापारीके लिये अपने तोल माप आदि सब ठीक रखने चाहिये । ठीक तोलनेके लिये व्यापारीके पास कांटा चाहिये । व्यापारीके पास तोलका ठीक साधन प्राप्त हो सकता है।

श्रेष्ठि विभाग ।

'(४) श्रेयसे वित्तधम् ।' [६९]

(श्रेयसे) कल्याणके लिये (वित्त-धं) धनका धारण करनेवालेको प्राप्त कीजिए।

श्रेय शब्दका अर्थ— श्रेष्ठ स्थिति; उत्तमता; बहुत अच्छी तथा इच्छा करनेयोग्य (अवस्था,) अनुकूल, सुखी, दीर्घायु, आनंद, सुस्थिति, पवित्र परिणाम, अंतिम स्वातंत्र्य ।

वित्त-ध का अर्थ— धनका धारण करनेवाला जो बहुत धन अपने पास रखता और बढाता है । सेठ साहूकार, महाजन पेढीवाला बैंक।

कृषि विभाग ।

'(५) इरायै कीनाशम् ।' [६६]

कीनाश का अर्थ— कुत्सितं नाशयति इति कीनाशः । जो बुरी अवस्थाका नाश करता है उसको कीनाश कहते हैं । कु का अर्थ— बुराई, अवनति विकार खराबी, गिरावट, दबाव, पाप, अपमान न्यूनता हानी कमताई । इन अवनतिदर्शक अवस्थाओंका नाश करनेवाला कीनाश अर्थात् किसान होता है । कीनाश का प्रमुख यौगिक अर्थ न्यूनताका नाश करनेवाला अर्थात् समृद्धि करनेवाला है । इसका रौढिक अर्थ किसान कृषीवल खेती करनेवाला है । किसान ही राष्ट्रके अंदर धान्यकी तथा अन्नकी समृद्धि करके लोगोंमें तृप्तिका रक्षण करता है ।

(३) वैश्य-वर्ण-विभाग ।

'(१) मरुद्भयो वैश्यम्।' [३]

(मरुद्भ्य) मनुष्योंके लिये (वैश्यं) वैश्यको नियुक्त करो ।

' मरुत् ' शब्द मरणधर्मा मनुष्यका बोधक है । मरुत् शब्द यहां बहुवचनमें होनेसे सब मनुष्य जातिका बोधक होता है । सब मनुष्योंके लिये सबसे पहिले दुकानदारोंकी आवश्यकता होती है । जहां मनुष्य एकत्रित होते हैं, और जहां बहुत दिनतक स्थिरवासे रहने होते हैं, वहां दुकानोंका प्रबंध अवश्य करना पडता है । जहां ग्राम हो वहां दुकानका प्रबंध होना चाहिये । (मरुत्, मर्त, मर्त्य, मर्य)

वैश्योंका धर्म यही है, कि चारों देशोंमें जो पदार्थ मिल सकते हों, उनको लाकर बेचें । वैश्योंके कारण ही नाना देशोंके नाना प्रकारके पदार्थ सब मनुष्योंको घर बैठे बैठे मिल सकते हैं । जिस ग्राममें दुकान रखनेसे लाभ नहीं होता, वहां वैश्य लोग अपनी दुकान नहीं खोल सकते। इसलिये राजकीय प्रबंधसे वहां दुकान खोली जाती है, अथवा किसी वैश्यको वहां दुकान खोलनेके लिये उत्साह देकर यथोचित सहायता देकर प्रबंध किया जाता है । जिससे वैश्यका भी नुकसान न हो और वहांकी जनताको भी लाभ हो सके । तात्पर्य सब जनताके लाभके लिये वैश्योंको नियुक्त करना चाहिये ।

'(२) आक्रयायै अ-योगुम् ।' [८]

(आ क्रयायै) क्रय विक्रयके लिये (अ-योगुं) जो विशेष प्रयत्न करनेवाला हो ।

व्यापारके लिये विशेष जोरके साथ प्रबल प्रयत्न करनेवालेको रखो । ' अयोगु, अयोग ' का अर्थ— जो प्रबल प्रयत्न करता है; प्रबल यत्न; दूसरेके साथ गुप्त संबंध न रखनेवाला, प्रयत्न, पुरुषार्थ, मेहनत ।

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः । इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ (अथर्व ६।३ ।१)

“ (सरस्-वत्यां) पानीके प्रवाहके तुल्य (मणौ अधि) उत्तम भूमीमें (इमं) इस (मधुना संयुतं यवं) मीठे जौ जैसा धान्योंकी (देवाः) देवोंने (अचर्कृषुः) खेती की । उस समय (शत-क्रतुः) सैकडों कर्म करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र देवोंका राजा (सीरपतिः आसीत्) हलका रक्षक था और (सु-दानवः मरुतः) उत्तम दाता मरुद्गण (कीनाशाः आसन्) किसान थे । ”

‘ देव ’ का अर्थ—विजयकी इच्छा करनेवाले लोग ज्ञानी सभ्यतम लोग । इन्द्र का अर्थ—राजा स्वामी मालिक । मरुत् (मर्-उत्) का अर्थ— मरणधर्मवाले मनुष्य हैं । मणि का अर्थ— अपनी जातिमें जो उत्तम होता है उसको मणि कहते हैं यहां उत्तम भूमीका तात्पर्य है ।

पानीके समीपकी उत्तम भूमीमें जब विजयेच्छु लोग मीठे धान्योंकी खेती करने लगते हैं, तब राजा हलका पालन करे अर्थात् इस जाति खेतीके साधनोंका संरक्षण राजासे होवे और दानशूर जन मनुष्य किसान बनकर खेतीका पवित्र कर्म करें । यहां शतक्रतु इन्द्र भी हल चलाता है और सब मरुद्गण तथा सब देव खेतीका कार्य करते हैं वहां आजकल मनुष्य खेतीके कामको नीच कर्म क्यों समझे ? जिस कर्मको सब देवोंने पवित्र बनाया और जो काम करने सब देवोंने अपना आदर्श बताया उस उत्तम कर्मको नीचा समझनेवाला आदमी अच्छा नहीं हो सकता । अस्तु इस प्रकार किसानके कर्मका महत्व है जो सबको बचाता है यह किसान ही सबका रक्षक है ।

११ (पुरुमेध)

समासमें ' कु ' का ' की ' होता है और ' कु-नाश ' का ' की नाश ' बनता है। किसानोंके उद्योगपर ही राष्ट्रके अन्नका निर्भर है, और यदि अन्नकी उत्पत्ति न हुई तो ' अकाल ' होता है। अकालसे सब लोगोंको बचानेवाला किसान है। ' नाश ' शब्दका अक्षर-व्यत्यय होकर ' शान, सान ' बना और ' की-नाश ' का ' कि-सान ' बना। ' कृपाण ' शब्दसे भी ' किसान ' शीघ्र बन सकता है, कीनाश शब्दके इस अर्थको देखनेसे ' किसान ' का राष्ट्रीय महत्व ध्यानमें आ सकता है।

(इरायै) अन्नके लिये (की-नाश) किसानको प्राप्त करो। कीनाश अर्थात् किसानका महत्व वेद निम्नप्रकार वर्णन करता है —

पाद्भ्यां सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छत ॥
(अथर्व ४।११।१०)

(पद्भि) अपने पावोंद्वारा (सेदिं) विनाशको (अव-क्रामन्) पराजित करता हुआ और (जङ्घाभि) जांघोंद्वारा (इरां) अन्नको (उत्-खिदन्) ऊपर करता हुआ अर्थात् उत्पन्न करता हुआ (अनड्वान्) बैल, तथा (श्रमेण कीनाश) कष्टके साथ खेती करनेवाला किसान, ये दोनों (कीलाल) उत्तम अन्नपानको (अभि-गच्छत) सब प्रकारसे प्राप्त करते हैं। ”

खेतीके लिये बैलकी आवश्यकता है, क्योंकि वह बैल खेती करनेके लिए जब खेतोंमें चलता है; तब मानो, वह अपने पावोंसे अकालरूपी शत्रुपर धावा करता है, और जांघोंसे भूमीमेंसे अन्नको ऊपर खेंचता है। इसके साथ किसान खेतोंमें परिश्रम करता है और ये दोनों उत्तम अन्नपानको अपनी मेहनतसे प्राप्त करते हैं। तथा—

गो-रक्षा-विभाग ।

' (६) पुष्टयै गो-पालम् । [६३]
(७) वीर्याय अवि-पालम् । [६४]
(८) तेजसे अज-पालम् । [६५]

(पुष्टयै) पुष्टिके लिये (गो-पाल) गौका पालन करनेवालेको रखो । गायके दूध, दही, मक्खन, घी आदिसे शरीरकी पुष्टि होती है । जो पुष्टि चाहते हैं वे गायका दूध पीयें । (वीर्याय) धातुकी वृद्धिके लिये (अवि-पाल) भेडोंके पालकको रखो । भेडी के दूधसे वीर्यकी वृद्धि होती है । जो अपने शरीरमें वीर्यकी वृद्धि करना चाहते हैं वे भेडीका दूध पीयें । (तेजसे) तेजस्विताके लिये (अज-पाल) बकरियोंके पालकको रखो । बकरीके शरीरका तेज बढता है; जो तेजकी वृद्धि चाहते हैं वे बकरीका दूध पीयें ।

घोडे पालनेवाले इस अनुभवकी साक्षी देते हैं । वे कहते हैं कि, भैंसके दूधसे घोडा सुस्त होता है, गायके दूधसे पुष्ट होता है परन्तु डरपोक होता है, भेडीके दूधसे वीर्यवान होता है, और बकरीके दूधसे तेज, फुर्तिला, होता है । पाठकोंको चाहिए कि वे इस बातका विशेष अनुभव लेकर अपना अपना अनुभव प्रसिद्ध करें । अनुभव थोडेसे दिनोंका नहीं चाहिए, परतु कमसे कम २०।२५ सालोंका चाहिए, तभी किसी परिणाम तक पहुचना संभव है । यहा गौ, बकरी, भेड आदि पशुओंके दूधसे तात्पर्य है न कि मांसके भक्षणका भाव है । देखिए—

> पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च
> धान्यम् । पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः
> सविता मे नियच्छात् ॥ (अथर्व० १९।३१।५)

' द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंसे, तथा जो धान्य है, उससे (पुष्टिं)

'(५) निष्कृत्यै पेशस्कारीम् ।' [४६]

(निष्कृत्यै) सुधारनेके लिये (पेशस्-कारीं) सजावट करनेवालेको प्राप्त करो।

'पेशस्' का अर्थ— आकार, सुरूपता, चमक व दमक, सतेजता, सजावट, शृङ्गार, गहना, जेवर, सौंदर्य बढानेका साधन। इनके कर्ताका नाम 'पेशस्कारी' है अर्थात् सजावट करनेवाला।

'(६) देव-लोकाय पेशितारम् ।' [७५]

(देव-लोकाय) दिव्यस्थानके लिये (पेशितारं) सौंदर्य बढानेवालेको प्राप्त करो।

'देव-लोक' का अर्थ-देवोंका लोक, देवोंका स्थान, उत्तम पुरुषोंका स्थान, श्रेष्ठोंका स्थान, उत्तम घर, उत्तम महल बनानेके लिये सुरूपता बढानेवालेको रखो।

'पेशिता' का अर्थ—आकारका विचार करनेवाला, सुन्दर आकार बनानेवाला, किसी पदार्थकी सुंदरता बढानेवाला।

किसी पदार्थका सौंदर्य बढानेके लिए ऐसे कारीगरको रखो कि, जो उसको अधिक सुंदर बना सके।

'(७) ह्साय कारीम् । [७६]
(८) ह्साय कारीम् ।' [१५४]

'ह्रस्' धातुका अर्थ— बढ जाना, श्रेष्ठ बनना; सदृश करना, एकरूप होना, खिलना, फूलना, विकसना, चमकदार होना, आनंदसे हंसना।

'ह्स' शब्दका अर्थ— बढना, श्रेष्ठत्व, सादृश्य, एकरूपता, विकास, चमक, आनंदका हास्य।

(ह्साय) चमक दमक के लिये (कारीं) कारीगरको प्राप्त करो।

किसी पदार्थकी शोभा बढाना उसको खूबसूरत बनाना उसकी एक वैसी प्रतिकृति बनाना, शोभाका विकास करना चमक बढाना आदि कर्मोंके लिये कारीगरको नियुक्त करना चाहिए। किसीके तरह तसबीर चित्र अथवा मूर्ति बनानेका भाव यहां प्रतीत होता है। इस विषयमें विचारी पाठकोंको सोचना चाहिए। यह मंत्र दो बार आता है जिससे स्पष्ट होता है, कि प्रतिकृति बनानेवाले कारीगरोंकी राष्ट्रमें अधिक आवश्यकता है। मंत्रका द्विवार प्रारंभमें तथा अंतमें उच्चारण होनेसे कारी अर्थात् कारीगरोंकी राष्ट्रीय उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यकता सिद्ध हुई है। पुनरुक्तिका महत्व यहां देखा जा सकता है।

‘ (९) वर्णाय हिरण्यकारम्। ’ [१२४]

(वर्णाय) रंगके लिये (हिरण्य-कारं) सुवर्णकारको प्राप्त करो। सुवर्णका अर्थ ही सु-वर्ण अर्थात् उत्तम वर्ण है। सुवर्ण अर्थात् सोनेका शरीरके कांतिके साथ कुछ न कुछ संबंध है। सोनेके आभूषण धारण करनेके साथ आयुष्य वृद्धिका संबंध वेदने बताया है—

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं
स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः।
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥

(यजु ३४।५१ ; अथर्व १।३५।२)

जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह विद्वानोंमें दीर्घायु होता है तथा साधारण मनुष्योंमें भी दीर्घायु होता है।

दाक्षायण हिरण्य का भाव अत्यंत शुद्ध सोना ऐसा प्रतीत होता है। वैद्योंको इस विषयमें सोचना चाहिये। शरीरका सौंदर्य शरीरका तेज शरीरकी उत्तम कांति सुवर्णके धारण करनेसे बढती है। शुद्ध जल शुद्ध अन्न शुद्ध वायु, उत्तम व्यायाम आदिके साथ सुवर्णका धारण करना लाभदायक होगा। केवल सुवर्णके धारण करनेसे ही आयुष्य नहीं बढ सकेगा। यह बात यहां स्मरणमें रखनी चाहिये।

‘ (१०) प्रकामाय रजयित्रीम् । ’ [८०]

(प्रकामाय) शोभाके लिये (रजयित्रीं) रंग देनेवालेको प्राप्त करो। कपडोंको रंगवाना, तथा अन्य पदार्थोको रंग देनेका काम करनेवाले जो होते हैं, उनको प्राप्त करके, प्रकाम अर्थात् उत्तम शोभाको प्राप्त करना। जिससे मनका अत्यंत समाधान होता है, उसको ‘ प्र–काम ’ कहते हैं ।

‘ (११) धैर्याय तक्षाणम् । ’ [२०]

(धैर्याय) धैर्यके लिये (तक्षाण) शिल्पीको प्राप्त करो । गृह आदि बनानेवाले शिल्पियोंको ‘ तक्षाण ’ कहते हैं । घर बनानेके समय अच्छे शिल्पीको नियुक्त करनेसे मनमें एक प्रकारका धैर्य उत्पन्न होता है, और विश्वास होता है कि, घरका काम नहीं बिगडेगा । परंतु अच्छे शिल्पीको न लगाकर साधारण राजोंको लगानेसे मनमें सदा डर रहता है, और सदा मनमें बात चुभती रहती है, और मनमें शंका होती है, कि शायद वह काम बिगडेगा, क्योंकि उस कामके लिये अच्छे कारीगरोंको नहीं रखा है । इसलिये सदा अच्छे कारीगरोंको ही काम पर लगाना धैर्य देनेवाला होता है । सब कामोंके लिये यही एक नियम ध्यानमें धरना चाहिए, कि अच्छेसे अच्छे कारीगरोंके ही सुपुर्द अपना कार्य करना चाहिए ।

‘ (१२) शुभे वपम् । ’ [२४]

(शुभे) सुंदरताके लिये (वपं) हजामको प्राप्त करो ।

इस मंत्रका दूसरा भी अर्थ है । (शुभे) उत्तमताके लिये (वपं) बीज बोनेवाले किसानको नियुक्त करो ।

दूसरे अर्थके साथ यह मंत्र वैश्यवर्गीय कृषिविभागमें जायगा और पहिले अर्थके साथ कारीगर-विभागमें यहां ही रहेगा । इसके दोनों अर्थ ठीक प्रतीत होते हैं, और वेदमें अन्यत्र ये शब्द दोनों अर्थोमें प्रयुक्त हुए हैं । इस विषयमें पाठकोंको अधिक विचार करना चाहिए ।

मनको तेज करनेके लिये गुरुके पास जाना चाहिए । यह गुरु शिष्यका मन शास्त्रोंकी अग्निमें तपाकर, अपनी सुशीलताके शांत जीवनमें डालकर ठीक बनता है । यह आलंकारिक अर्थ है । मेरे विचारमें पहिला अर्थ यहां प्रकरणानुकूल है ।

'(१६) ऋभुभ्यः अजिनसंधम् । [१०९]
(१७) साध्येभ्यः चर्मम्नम् ।' [११०]

(ऋभुभ्य·) रथ अथवा सवारी गाडी बनानेवालोंके साथ (अजिन-संध) चमडेका काम करनेवालेको नियुक्त करो । (साध्येभ्य) पूर्णता करनेवालोंके साथ (चर्म-म्न) चमडेको ठीक करनेवालेको नियुक्त करो ।

' ऋभु ' का अर्थ— कला हुनर जाननेवाला, कुशल, कारीगर; चतुर; स्याना, कारीगर, धातुका काम करनेवाला कारीगर; सवारी गाडी बनानेवाला कारीगर, रथकार, नई बात निकालनेवाला, नवीन शोध करनेवाला, नवीन यन्त्रकलाका आविष्कार करनेवाला, शोधक, कल्पक ।

' अजिन ' का अर्थ— चर्म, चमडा; चमडेकी थैली, थोरा, थैला, फुकनी, धवकनी, ऊन ।

' अजिन-संध ' का अर्थ— चमडा जोडनेवाला, चमडेके थैले बनानेवाला ऊनका व्यवहार करनेवाला इ० ।

सवारीकी गाडिया बनानेवाले कारीगरोंके साथ चमडेका काम करनेवाले कारीगरोंका मेलमिलाप होना चाहिए । गाडियोंमें चमडेके गद्दे और तकिये होते हैं । दोनों कारीगरोंके मेलसे इनकी बनावट अच्छी हो सकती है । लकडीका काम करनेवाले कारीगरोंका चमडेके काम करनेवाले कारीगरोंके साथ व्यापार व्यवहारका मेल मिलाप होना उचित है, क्योंकि दोनोंका व्यवहार अनेक कार्योंमें सम्मिलित होनेवाला है । कुर्सी और कोचों पर चमडेकी गद्दियां रखी जाती है, इसलिये एक कुर्सी बनानेमें दोनों कारीगरोंका संबंध आता है, अत इनको आपसमें मेलमिलाप करना चाहिए ।

साम्य का अर्थ— जो कृत्रिम पूर्णता करता है, ठीक ठीक करने-वाला परिपूर्णता करनेवाला। इस शब्दका भाव समझनेके लिये पाठकोंको दो कारीगरोंकी कल्पना करनी चाहिए। (१) एक लकडीकी कुर्सी बनाने वाला और (२) दूसरा बनी हुई कुर्सीपर पालिश वारनीश आदि करके उत्तम पूर्ण बनानेवाला; इस दूसरे कारीगरका नाम साम्य है। हर एक कारीगरीमें इसका होना संभव है। अपूर्ण पदार्थको पूर्ण बनानेवाला कारी-गर साम्य होता है।

चर्म-म्न का अर्थ— चमडा कमानेवाला। पाठकोंको उचित है कि वे इन अर्थोंके साथ इन मंत्रोंका विचार करें और उनका आशय जानें।

परिवेषण-विभाग।
(परोसनेका काम)

'(१८) वर्षिष्ठाय नाकाय परिवष्टारम्।' [७४]
'(१९) वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्।' [९०]

(वर्षिष्ठाय नाकाय) श्रेष्ठ सुखके लिये (परिवेष्टारं) उत्तम परोसनेवालेको नियुक्त करो।

क-सुख आनंद स्वास्थ्य। अ+क = दुःख, अस्वास्थ्य रोग। न+अ+क = (नाक) = सुख आनंद स्वास्थ्य निरोगता। 'नाक' शब्दके मतलबसे साथ स्थापित की हुई स्वास्थ्यकी अवस्था व्यक्त होती है। क्योंकि 'अक' शब्दसे अस्वास्थ्य की अवस्था व्यक्त होती है उसका निषेध नाक (न-अक) शब्दने किया है। स्वास्थ्यकी रक्षा भोजनके साथ करनी चाहिये। और उसके लिये उत्तम परोसनेवाला चाहिये। भोजनके समय परोसनेवाला उत्तम न हो तो स्वास्थ्य बिगडता है।

यह मंत्र दोवार आया है, इसलिये इससे व्यक्त होता है कि पकाने और परोसनेवालोंके साथ स्वास्थ्यका विशेष संबंध है इस

बातकी ओर सबको अधिक ध्यान देना चाहिये। अच्छे नौकरके कारण घर ही स्वर्ग बन सकता है, विशेषतः अन्न पकानेवाला तथा परोसनेवाला उत्तम हो, तो घर ही साक्षात् 'वर्षिष्ठ नाक' अर्थात् 'श्रेष्ठ स्वर्ग' बन सकता है। जिनके मकानोंमें पकाने परोसनेवाले नौकर दुःख देनेवाले होते हैं, उनको इस मन्त्रकी सचाई अनुभवसिद्ध प्रतीत हो सकती है। क्योंकि दुष्ट नौकरोंके कारण उनका मकान नरकरूप उनके लिये बनता है।

वादित्र-विभाग।

'(२०) शब्दाय आडंबराघातम्। [१४७]
(२१) स्वनेभ्यः पर्णकम्। [१४८]
(२२) क्रोशाय तूणवध्मम्। [१४९]
(२३) अवरस्पराय शंखध्मम्।' [१५०]

(शब्दाय) आवाजके लिये (आडंबर-आघात) नौबत बजानेवालेको प्राप्त करो। नौबत, ढोल, डफ आदि चर्मवाद्य बजानेवालोंको प्राप्त करनेसे बाजा बजानेका काम हो सकता है। (स्वनेभ्यः) स्वरोंके लिये (पर्ण-क) तुरही बजानेवालेको प्राप्त करो।

(क्रोशाय) बडे शब्दके लिये ढोल बजानेवालेको रखो। (अवरस्पराय) मध्यम शब्दके लिये शंख बजानेवालेको रखो।

बाजेमें जैसे नौबत बजानेवाले चाहिये, वैसे ही तुरही, सींग, शंख, बांसुरी, मुरली, घड्याळ, शीटी आदि बजानेवाले भी चाहिये। इस प्रकारके बाजे मंगल कार्योंमें बजाये जाते हैं, तथा युद्ध आदिके समयमें भी बजाये जाते हैं। दोनों समयके बाजोंमें भिन्न भिन्न वाद्य हुआ करते हैं। वेदमें मंगलवाद्य और रणवाद्य ऐसे दोनों प्रकारके बाजोंका वर्णन है।

(५) चारों वर्णोंके लिये सामान्य उपदेश।

'(१) भूत्यै जागरणम्। [१२८]
(२) अभूत्यै स्वपनम्।' [१२९]

(भूत्यै) उन्नतिके लिये (जागरणं) दक्षताका अवलंबन करो। (अ-भूत्यै) अवनतिके लिये (स्वपनं) सुस्ती है।

भूति का अर्थ— अस्तित्व, उत्पत्ति, बलाढ्य कर्म, उन्नति, विजय, यश, महत्त्व, प्रताप, महात्म्य।

जागरण का अर्थ— जागरणशीलता, जागृति चौकसी पहरा रखनेकी सावधानता अथवा दक्षता।

स्वपन का अर्थ— सुस्ती आलस आराम-तलबी बेपरवाही बेपर-वाही, बेहोशी निरुद्योगिता।

प्रत्येक कार्यमें दक्षता रखनेसे उन्नति होती है तथा सुस्ती करनेसे अवनति होती है।

'(३) वृद्ध्यै अपगल्भम्।' [१३१]

(वृद्ध्यै) अभ्युदयके लिये (अप-गल्भं) गर्वहीनताका अवलंबन करो।

गल्भ का अर्थ— घमंडी ढीठ, दुरभिमानी अभिमान एवं घमंड।

अप-गल्भ का अर्थ— निरभिमानता, गर्वहीनता घमंड न करनेवाला मनुष्य।

वृद्धि का अर्थ— बढ़ना, सुखसाज ऐश्वर्य धनकी परिपूर्णता उन्नति अवस्थासंपन्नता, विजय प्रगति अभ्युदय बढ़ती तरक्की शक्तिका विस्तार।

घमंड करनेसे प्रमाद अर्थात् दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिये घमंड छोडना अभ्युदयके लिये अच्छा है।

‘(४) स्वप्नाय अन्धम्।’ [५४]
‘(५) अधर्माय बधिरम्।’ [५५]

(स्वप्नाय) सुस्ती के लिये (अन्धं) संयमका अवलम्बन करो। (अ-धर्माय) दुराचारके लिये (बधिर) बहरा बनो।

निम्न श्लोकमें ‘ अंध ’ शब्दका अर्थ दिया है— तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्॥ चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा परिव्राडन्ध उच्यते॥’ (आपटेकृत संस्कृतकोश पृ ९६) जिसने अपने सब इंद्रिय स्वाधीन रखे हैं उसको अन्ध कहते हैं। अपने इंद्रिय स्वाधीन रखनेसे सुस्ती नहीं आती।

अधर्मकी बातें जहां चलती हों, वहां बहिरा बनकर रहो, अर्थात् उन बातोंको न सुनो। सब इंद्रियोंके पापके विषयमें यही बात है, जिसका उपदेश अगले मंत्रमें है—

‘(६) पाप्मने क्लीबम्।’ [७]

(पाप्मने) पतित विचारके लिये (क्लीब) शक्तिहीन बनो।

‘ पाप्मन् ’ का अर्थ— पाप, गुन्हा, कुटिलता, अपराध, बुरा विचार। जिससे अवनति होती है, उस प्रकारका विचार, उच्चार और आचार। पाप्मन्, पाप-मन्, पाप-मनन, पापी विचार।

‘ क्लीब ’ उसको कहते हैं कि, जो अपने इंद्रियसे, कमजोरीके कारण पाप नहीं कर सकता, नपुंसक, शक्तिहीन।

पतित विचार, पतित उच्चार और पतित आचारके लिये असमर्थ बनो, अर्थात् जिससे अवनति होनी है, उस कर्मके लिये असमर्थ बन जाओ, उस कर्म करनेकी शक्ति तुम्हारे अंदर होने पर भी तुम उस बुरे कर्मको

न करो। बुरा विचार करनेके लिये मनको असमर्थ बनाओ बुरा उच्चार करनेके लिये वाणीको असमर्थ बनाओ तथा बुरा कर्म करनेके लिये अन्य अवयवोंको असमर्थ बनाओ। आंख देख सकता है, परंतु ऐसा अभ्यास करना कि बुरी दृष्टिसे आंख किसीकी ओर न देख सके, अच्छी दृष्टिसे ही सबकी ओर देखे। इसी प्रकार सब इंद्रियोंकी परिपूर्ण शक्ति रखते हुए भी पाप करनेके लिये शक्तिहीन जैसा बनना चाहिए।

जहां जिस इंद्रियसे पाप होनेकी संभावना हो वहां उस इंद्रियकी शक्तिसे रहित मनुष्यको नियुक्त करो ताकि अन्य कार्य करता हुआ वह उस इंद्रियसे पाप न कर सके।

'(७) प्रियाय प्रियवादिनम्।' [८७]

(प्रियाय) प्रेमके लिये (प्रिय-वादिनम्) प्रिय बोलनेवालेको रखो।

'(८) प्रमुदे वा मनम्।' [५२]

(प्र मुदे) अत्यंत हर्षके लिये (वा-मनं) उत्तम मनन करनेवालेको रखो। वननीयं मनः यस्य। वननीयं मनुते। जिसका मन उत्तम है अथवा जो उत्तम विचार करता है वह वा-मन कहलाता है।

'(९) आनंदाय स्त्रीषखम्' [१७]

(आनंदाय) आनंदके लिये (स्त्री-षखं स्त्री-सखं) स्त्रीके साथ मित्रता करो। यहां आनंद शब्दसे गृहसुख कुलसुख आदि भाव लेना है। स-ख स-खन सह-ख्यान समान विचार। अपनी स्त्रीके साथ समान विचार अर्थात् एक विचार रखना आनंद देनेवाला है। विवाहका बीज इस मंत्रमें है।

'(१०) पश्चादोषाय ग्लाविनम्' [१२६]

(पश्चा-दोषाय) पीछे रहनेके दोषके लिये (ग्लाविनं) अत्यंत परिश्रम करनेवालेको रखो। पश्चा-दोष उसको कहते हैं कि जो सबसे पीछे

रहनेकी आदत होती है। प्रत्येक काममें सबसे पीछे रहना, यह बड़ा भारी दोष है। इसको हटानेके लिये अत्यंत परिश्रमी पुरुषके पास रहना चाहिए। ' श्लाविन् ' उसको कहते हैं, कि जो अत्यंत महान परिश्रम के साथ दीर्घ उद्योग करे करके थक जाता हो। सदा उद्योग करता रहता है, और अत्यंत पुरुषार्थ करनेके कारण थक जाता है। ऐसे दीर्घोद्योगी पुरुषके साथ रहनेसे पीछे रहनेका दोष दूर होगा, और शीघ्र पुरुषार्थ करनेका अभ्यास हो जायगा।

' (११) विश्वेभ्यो देवेभ्यः सिध्मलम्। ' [१२७]

(विश्वेभ्य' देवेभ्य) सब विद्वानोंके लिये (सिध्-मल) सिद्धता करनेवालेको रखो। ' सिध्मं मलति धारयति इति सिध्मल सिद्धि-धारक'। ' जो सिद्धताका धारण और पोषण करता है। अर्थात् जो सब शुभ अवस्थाकी सिद्धता करता है, उसको सब विद्वानोंके लिये रखो, ताकि वह उन विद्वानोंके सब काम ठीक प्रकार सिद्ध कर सके, और उनको सुख पहुचा सके। यहां ' देव ' शब्दके पूर्वोक्त ग्यारह अर्थ देखकर इस मंत्रका अधिक विचार पाठकोंको करना चाहिए।

' (१२) कामाय पूंश्चलूम्। ' [९]

(कामाय) इच्छाके लिये (पूं चलू) पुरुषोंको संचालन करनेवालेको प्राप्त करो। इच्छाशक्तिको बलवान करनेके लिये ऐसे मनुष्यके पास जाओ, कि जो अपने प्रभावसे अनेक मनुष्योंके अंदर हलचल उत्पन्न करता है।

गायन-विभाग।

' (१३) गीताय शैलूषम्। [१२]
(१४) नृत्ताय सूतम्। [१२]
(१५) महसे वीणा-वादम्। [१४८]

(६) प्रजापत्य-विभाग ।

अथ एतान् अष्टौ वि-रूपान् आलभते ॥

(१) अति-दीर्घं च। [१७३], (२) अति-ह्रस्वं च। [१७४]
(३) अति-स्थूल च। [१७५]; (४) अति-कृशं च। [१७६]
(५) अति-शुक्लं च। [१७७], (६) अति-कृष्णं च। [१७८]
(७) अति कुल्वं च। [१७९]; (८) अति-लोमशं च। [१८०]

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्रजापत्याः ॥

(९) मागधः । (१८१), (१०) पूंश्चली । (१८२)
(११) कितवः । (१८३); (१२) क्लीबः (१८४)

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्राजापत्याः ॥

अर्थ— अथ इन आठ (वि रूपान्) विरुद्ध रूपवाले मनुष्योंको (आ-लभते) प्राप्त करता है। (१) बहुत ऊंचा, (२) बहुत ठिंगणा, (३) बहुत स्थूल, (४) बहुत कृश, (५) बहुत गोरा, (६) बहुत काला, (७) जिसपर बिलकुल बाल नहीं ऐसा, तथा (८) जिसपर बहुत बाल हैं, ऐसा ॥ (९) 'मा-गध' = अर्थात् प्रमाणपूर्वक भाषण करनेवाला, (१०) 'पूं-चलिन्' अर्थात् मनुष्योंमें हलचल मचानेवाला, (११) 'कित -व' = अर्थात् बडा ज्ञानी, और (१२) 'क्लीब +' = अर्थात् शक्तिहीन, पुरुषत्वहीन, असमर्थ ॥ ये बारह प्रकारके लोक 'प्रजापति' अर्थात् प्रजापालक राजाके लिये अपने पास रखने योग्य हैं, परंतु ये शूद्र न हों तथा न ब्राह्मण हों।

+ अपनी शक्तिको गुप्त रखनेवाला ऐसा भी इस 'क्लीब' का शब्द आशय हो सकता है। ह्रस्व 'क्लिब' शब्द शक्तिका वाचक है।

शूद्र अर्थात् कारीगर अथवा नौकर पेशाके लोग तथा ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी इन दोनोंको छोड़कर, अन्य क्षत्रिय वैश्योंमेंसे कुछ चार प्रकारके लोग प्रजापालक राजाको केवल अपने पास रखने योग्य हैं। इससे स्पष्ट होता है, कि अन्य क्षत्रिय वैश्य अधिकारी इस प्रकारके न हों। अर्थात् कोई क्षत्रिय वैश्य वर्णका मनुष्य जो बहुत लंबा बहुत ठिंगना बहुत मोटा बहुत दुबला बहुत गोरा बहुत काला बहुत कम बालवाला अथवा बहुत बालवाला है उसको शासक संस्थाका अधिकारी न किया जावे। यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकारके कुरूप लोगोंका अन्य लोग उप-हास करते हैं, इसलिये इनको अधिकारपर रखना उचित नहीं। इसलिये यह बात निश्चित हो गई कि जो मनुष्य इन आठ प्रकारकी कुरूपतासे रहित अर्थात् जो सुरूप होता है उसीको अधिकारपर रखना चाहिए।

तथा ममत्वपूर्वक भाषण करनेवाला, दुराग्रह करनेवाला, महाक्रोधी तथा प्रतिभाहीन इन चार प्रकारके मनुष्योंको भी राजाने केवल अपने पास ही रखना चाहिये। शूद्र तथा ब्राह्मणोंको छोड़कर अन्य क्षत्रिय वैश्योंमेंसे कोई व्यवसायी इन चार गुणोंसे युक्त न हो। क्योंकि बहुत ममत्वशाली यदि हुआ तो अपना ही अथवा मत सर्वत्रतासे चलावेगा दुराग्रही हुआ तो मनुष्योंसे कलहको मचावेगा क्रोधमें मस्त रहनेवाला हुआ तो काम करनेमें असमर्थ होगा तथा प्रतिभाहीन हुआ तो अधिकारीपदका कार्य करनेमें असमर्थ होगा। इसलिये इन चार विशेष गुणोंसे युक्त जो नहीं होते हैं उनको ही अधिकार पर रखना चाहिये। जिससे राज्यसंस्थाका बिगाड़ होना संभव नहीं ऐसे पुरुष चुनने चाहिये। अच्छा वक्ता हो परंतु अपना ही मत चलानेवाला न हो लोगोंमें दुराग्रह मचानेवाला न हो क्रोधमें ही मस्त न हो तथा प्रतिभाहीन न हो। अर्थात् शासकमण्डलीमें विरोध न करता हुआ शासन का काम अच्छी प्रकार करनेवाला जो होगा उसको ही शासनके लिये अधिकारी करना उचित है।

●

(६) प्रजापत्य-विभाग ।

अथ एतान् अष्टौ वि-रूपान् आलभते ॥

(१) अति-दीर्घं च। [१७३], (२) अति-ह्रस्वं च। [१७४]
(३) अति-स्थूलं च। [१७५]; (४) अति-कृशं च। [१७६]
(५) अति-शुक्लं च। [१७७], (६) अति-कृष्णं च। [१७८]
(७) अति-कुल्वं च। [१७९]; (८) अति-लोमशं च। [१८०]

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्रजापत्याः ॥

(९) मागधः। (१८१); (१०) पुंश्चली। (१८२)
(११) कितवः। (१८३); (१२) क्लीवः (१८४),

अ-शूद्राः अ-ब्राह्मणाः ते प्राजापत्याः ॥

अर्थ— अब इन आठ (वि रूपान्) विरुद्ध रूपवाले मनुष्योंको (आ-लभते) प्राप्त करता है। (१) बहुत ऊंचा, (२) बहुत ठिंगणा, (३) बहुत स्थूल, (४) बहुत कृश, (५) बहुत गोरा, (६) बहुत काला, (७) जिसपर बिलकुल बाल नहीं ऐसा, तथा (८) जिसपर बहुत बाल हैं, ऐसा ॥ (९) 'मा-गध' = अर्थात् प्रमाणपूर्वक भाषण करनेवाला, (१०) 'पुं-चलिन्' अर्थात् मनुष्योंमें हलचल मचानेवाला, (११) 'कित-व' = अर्थात् बडा ज्ञानी, और (१२) 'क्लीव +' = अर्थात् शक्तिहीन, पुरुषत्वहीन, असमर्थ ॥ ये बारह प्रकारके लोक 'प्रजापति' अर्थात् प्रजापालक राजाके लिये अपने पास रखने योग्य हैं, परन्तु ये शूद्र न हों तथा न ब्राह्मण हों।

+ अपनी शक्तिको गुप्त रखनेवाला ऐसा भी इस 'क्लीब' का शब्द आशय हो सकता है। ह्रस्व 'क्लिब' शब्द शक्तिका वाचक है।

प्रजासत्ताके साथ इनको नियुक्त करनेके लिये कहा है। इसका तात्पर्य किसी अन्य अधिकारके स्थानपर ये लोग इनमें नियुक्त न हों ऐसा स्पष्ट है। यह विचार अष्टविध कुलक्षणोंका हुआ। अब चतुर्विध दोषोंका विचार करेंगे—

चतुर्विध दोष।

[वैदिक संकेत]	[गुणाविरुद्धके दोष]	[दुराचारके दोष]
(१) मायावा	(मा-वकः) अत्यंत प्रमादवाली तथा प्रमादपूर्वक विरुद्ध अनुकूल करनेवाला।	(मायावः) स्तुति-पाठक खुशामद कर देनेवाला
(२) पुंश्चलिन्	(पुं-चलिन्)-दोनोंमें इधरउधर भगानेवाला	(पुंश्चलिन्) व्यभिचारी। दोनों प्रकारका व्यभिचार करनेवाला।
(३) कितवः	(कित-वा)-ज्ञानमें ही उदासीन होनेवाला।	(कितवः) जुआ खेलनेवाला। [illegible]
(४) क्लीबः	[illegible] बा-रण करनेवाला अपनी शक्तिका उपयोग न करनेवाला।	नपुंसक शक्ति हीन वीर्यबल-हीन।

शूद्र जैसे मिलेंगे वैसे रखना । क्योंकि वे स्वतन्त्र धंदेवाले होनेके कारण, उनका शासनविभागमें कोई अधिकार नहीं है, इसलिये उनकी कुरूपतासे जनतापर बुरा परिणाम होना संभव नहीं । तथा ब्राह्मण भी जैसा मिले वैसा नियुक्त किया जाय । क्योंकि उनका केवल ज्ञानप्रचारका कार्य है, और ज्ञान जहां होगा वहांसे लेना चाहिये । इसलिये उक्त आठ कुरूपताओंके कारण शूद्र और ब्राह्मणोंको दूर नहीं करना चाहिये ।

उदाहरणके लिये सैन्यविभाग लीजिये । सैन्यमें जो लोग रखने होंगे उनमेंसे कई बडे ऊंचे, कइ बडे ठिंगणे, कई बडे मोटे, कई बिलकुल पतले, कई बहुत बालवाले तथा कई बिना बालोंके लोग होंगे, तो उस सैन्यविभागका किस प्रकार विचित्र और बेढंगा स्वरूप हो सकता है, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । सैन्यविभागमें एक जैसे आकारवाले ही लोग रखने चाहिये । जिससे सैन्यके स्वरूपसे विशेष प्रभाव उत्पन्न हो सके । ओहदेदार भी बहुत ही बडे पेटवाला अथवा बहुत ही दुर्बल होनेसे, उस का वैसा प्रभाव नहीं हो सकता, कि जैसा उसका स्वरूप सुडौल होनेसे हो सकता है । यही बात सब स्थानमें जाननी चाहिये ।

तर्खाण, लुहार, चमार आदि स्वतन्त्र उद्यम करनेवाले जिस किसी प्रकार के हों, उनसे जनतापर कोई बुरा असर नहीं होता । तथा बडा विद्वान् ब्राह्मण अष्टावक्र जैसा बिलकुल टेढा मेढा होनेपर भी उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो सकती है; क्योंकि वहां विद्याका तेज अप्रतिम होता है । इसलिये इन दोनोंको छोड दिया है, और कहा है कि " अ-शूद्रा अ-ब्राह्मणा । " शूद्र और ब्राह्मणोंको छोडकर पूर्वोक्त अन्य अधिकारियोंमें इस प्रकारकी अष्टविध कुरूपता न हो ।

प्रजापति अथवा प्रजापालक राष्ट्राधिकारी इन अष्टविध विरूपोंको अपने पास विशेष कामके लिये रखे, परन्तु ' क्षत्राय राजन्य ' आदि मन्त्रोंसे जिन अधिकारियोंका वर्णन हुआ है, उनके स्थानपर इस प्रकारके कुरूप न रखे जांय । इसीलिये इन आठ कुरूपोंको अलग गिनकर

ये चार शब्द दो दो अर्थ बताते हैं। गुणके अधिक होनेके कारण पहिला दोष है। वास्तवमें यह गुणकी अधिकता प्रत्येक व्यक्तिमें सन्मान बढानेवाली है। परंतु इस प्रकारके गुणाधिक्यवाले लोग, ओहदेपर रहकर, राज्ययंत्रका जिम्मेवारीका काम अच्छी प्रकार नहीं निभा सकते। व्यक्तिश ये गुण हैं, इसलिये राष्ट्रशासकको ऐसे मनुष्य अपने पास रखने चाहिये। परंतु शासनके कार्यमें इनके गुणाधिक्यके कारण विगाड होनेकी संभावना है, इसलिये इनको उस काममें नहीं नियुक्त करना।

यही चार वैदिक संकेत चार दुष्ट दोषोंके दर्शक हैं। खुशामदी, व्यभिचारी, जुवारिया, और शक्तिहीन। इन चार प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको भी शासनकार्यमें लगाना नहीं चाहिये। धर्म और नीतिका विगाड इनसे होता है। बलवान न होना अथवा दुर्बल, शक्तिहीन, पौरुषत्वहीन रहना ही वेदकी संमतिसे दोष है। प्रयत्न करके प्रत्येकको निर्दोष, बलिष्ठ और पुरुषार्थी होना चाहिये। इन चार दोषोंके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार यह 'वस्तुविभाग' प्रकरण है। इस प्रकरणमें जो अर्थ दिए हैं, उनपर अधिक मननादिकी आवश्यकता है। आशा है कि विद्वान् स्वाध्यायशील पाठक इन मन्त्रोंके अर्थोंपर विशेष विचार करके सत्य अर्थोंकी खोज करेंगे।

(१) व्यक्तिमें शान्ति।

(२) जातिमें शान्ति॥

(३) जगतमें शान्ति॥।

मन्त्र ४—विभक्तारं हवामहे वसो० ।—ऋ० १।२२।७॥ यजु० वा० सं० ३०।४॥ तैत्त० ब्रा० १०।२।६।६॥.

मन्त्र ५—क्षत्राय ब्रह्मणे ब्राह्मणम् ।—यजु० वा० सं० ३०।५॥, तै० ब्रा० ३।४।१।१॥. कात्या० श्रौ० २१।१।७॥ आप० श्रौ० २०।२४।८॥

राजन्यम् ।—यजु० वा० सं० ३०।५॥ तै० ब्रा० ३।४।१।१॥

[इस मन्त्रसे अ० ३० के समाप्तिपर्यन्त सब मन्त्र केवल तै० ब्रा० ३।४।१।१ से ३।४।१।१९ तक आये हैं, किसी अन्य ग्रन्थोंमें इनका अक्षररूप प्रतीकोंके सिवाय नहीं हैं ।]

१२ प्रसुव यज्ञम् ।	...सत्कर्म करो ।
१३ प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।	[सत्कर्म कर्ताको उन्नतिके लिये प्रेरित [करो ।
१४ केत-पू केतं न पुनातु ।	[ज्ञानसे पवित्र बना हुआ ज्ञानी हम [सबके ज्ञानको पवित्र करे ।
१५ वाचस्पतिर्वाच नः स्व-दतु ।	[उत्तम वक्ता हम सबके वाणीको [मधुर बनावे ।
१६ भर्गो देवस्य धीमहि ।	[हम सब एक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका [ध्यान करें ।
१७ धियो यो न प्रचोद-यात् ।	[जो ईश्वर हम सबके बुद्धियोंको उत्तम [प्रेरणा करता है ।
१८ दुरितानि परा सुव ।	पापोंको दूर फेंको ।
१९ यद्भद्रं तन्न आ सुव ।	[जो भला है उसको हम सबके पास [करो ।
२० विभक्तारं हवामहे वसो-श्चित्रस्य राधस ।	[विलक्षण सिद्धिके साधनरूप धनका [सबकेलिये योग्य विभाग करनेवाले-[की हम सब प्रशंसा करते हैं ।

स्पष्टीकरण ।

२१ स्वर्यंतो धिया दिवम् ।	[बुद्धिसे सत्वरूप तेजस्वी स्वर्गको [प्राप्त होते हैं ।
२२ बृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् ।	[जो बडे तेजको फैलाते हैं उनको [ईश्वर विशेष ऐश्वर्ययुक्त करता
२३ प्रेरय सूरो अर्थं न पारम्	[विद्वान जिस प्रकार पार होता है, [उस प्रकार अपने उच्च ध्येयके लिये [प्रेरित हो जाओ ।

४० तुरं भगस्य धीमहि ।	भाग्यके विजयका ध्यान करते हैं ।
४१ अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम् । न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥	इस उत्साहवर्धक अपने यशसे फैलेहुए प्रेममय स्वराज्यको कोई भी नाश नहीं कर सकते ।
४२ भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।	तेज, यश, मानसशक्ति, शारीरिकशक्ति, वीर्य आयु, तथा आत्मिक बल प्राप्त करने चाहिये ।
४३ राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ।	राष्ट्रसेवा और सौ वर्षकी आयुके लिये मैं इसका स्वीकार करता हूं ।
४४ परोपेहि मनस्पाप ।	हे मनके पाप ! दूर हो जाओ ।
४५ परेहि न त्वा कामये ।	हे पाप ! दूर हो जाओ, मैं तेरी इच्छा नहीं करता ।
४६ अप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे ।	दुराचार और दुर्विचार दूर रखो ।
४७ प्रचेता दुरितात्पात्वंहस ।	ज्ञानी दुर्गति और पापसे बचावे ।
४८ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम ।	कानोंसे अच्छे विचार सुनें ।
४९ भद्रं पश्येमाक्षभिः ।	आंखोंसे अच्छा रूप देखें ।
५० स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसः ।	बलवान अवयवोंद्वारा ईश्वरकी उपासना करेंगे ।
५१ तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।	अपनी आयुकी समाप्तितक अपने शरीरसे विद्वानोंका हित करेंगे ।
५२ रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु ।	हमारे ज्ञानियोंमें तेजस्विता रखो ।
५३ रुचं राजसु नस्कृधि ।	हमारे शूरोंमें तेजस्विता रखो ।
५४ रुचं विश्येषु शूद्रेषु ।	वैश्य और शूद्रोंमें तेजस्विता रखो ।
५५ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।	ब्राह्मण ज्ञानसे तेजस्वी होवे ।

मंत्र-सूची।

सूचना— जिनके नामके + ऐसा चिन्ह है वे मन्त्र वेदमंत्र नहीं हैं। वे अन्य ग्रन्थोंके मन्त्र हैं।

विषयसूची ।

भूमिका ।